सिद्धयोग

संस्थापक
[illegible]

अगस्त १९९१

वर्ष २४

अंक ५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
प्रकाशन
सवाई, आगरा

सम्पादक :
श्री 'दिव्य'

अगस्त
१९९१

इस अंक में पढ़िए

लेख	पृष्ठ
★ ध्यानाभ्यास (कविता)	१
★ श्री प्रभुजी का 'दिव्य जन्म' (विशेष लेख) .... —ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज	२
★ गुरु पूर्णिमा का पावन पर्व (सम्पादकीय)	४
★ रमता जोगी बहता पानी .... —श्री 'दिव्य'	८
★ स्वान्तःसुखाय .... —डा० श्री शिवानन्द	६
★ तुझे सगुण कहूँ या निर्गुण .... —सन्त ज्ञानदेव चिन्तन	१३
★ निष्काम कर्मयोग—एक व्यावहारिक विवेचन .... —डा० श्री मोतीलाल जी गुप्त	१५
★ गुरु पूर्णिमा .... —ब्र० श्री ओमप्रकाश पालीवाल	१८
★ पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्	२६
★ योगक्षेमं वहाम्यहम् .... —श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा	२८
★ महाभारत में शक्तिपातोपाख्यान .... —डा० विजयसिंह	३१
★ गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास .... —श्री विष्णुप्रसाद व्यास	३५
★ कल्याण का आधार है—योग .... —आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा	३७
★ शरीरगत दश वायु .... —श्री रामधन शर्मा शास्त्री	४२
★ सन्त देवजान सकलवी	४६
★ सत्यं-शिवं-सुन्दरम् .... —स्वामी विरजानन्द सरस्वती	४७

एक प्रति ६ रु० वार्षिक मूल्य ४५ रु० ।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों ता प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष २४ | अङ्क ५ | अगस्त १९९१

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विचरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थम् बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

—: ध्यानाभ्यास :—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥

—ईश उपनिषद् १/१४

अर्थात्

अग्नि को प्रकट करने के लिए जैसे दो अरणियों का मन्थन किया जाता है, उसी प्रकार अपने शरीर में परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करने के लिए शरीर को तो नीचे की अरणि बनाना चाहिए और ॐकार को ऊपर की अरणि। अर्थात् शरीर को नीचे की अरणि की भाँति ॐकार का वाणी द्वारा जप और मनसे उसके अर्थस्वरूप परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार इस ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास से साधक को काष्ठ में छिपी हुई अग्नि की भाँति अपने हृदय में छिपे हुए परमदेव परमेश्वर को देख लेना—प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए।

विशेष लेख :-

ब्रह्मलीन योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्रस्तुत लेख में श्री महाप्रभुजी के दिव्य जन्म पर प्रकाश डालते हुए पूज्य-चरण श्री गुरुदेव जी महाराज ने यह समझाने का प्रयास किया है कि उन्होंने योग धर्म के पुनरुत्थान के लिए निर्माण-काय द्वारा अपने को किस प्रकार एक सद्गृहस्थ के घर में प्रकट होकर उसे कृतार्थ करके दुष्प्राप्य योग सिद्धान्तों का विश्व में व्यापक प्रचार करने का सुयास किया।

—सम्पादक

श्री प्रभुजी का ★ ★ ★
★ ★ ★ ★ 'दिव्य जन्म'

अखण्ड ब्रह्माण्ड-नायक सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज अमृतसर की पावन भूमि में अवतरित हुए। अमृतसर एक ऐसा पवित्र नगर है जो परम-दिव्य है एवं सिद्धानुग्रह भाजन रहा है। इस नगर में सर्व-सामर्थ्यवान अणिमादिक ऐश्वर्यों के मालिक किसी न किसी महापुरुष का अवतरण होता ही रहा है। गुरुदेव नानक एवं गुरु गोविन्द सिंह आदि का चिरकाल तक यह निवास-स्थान बना रहा। उन्हीं सन्तों के कृपा स्वरूप यहाँ पर बहुत ही दर्शनीय स्वर्ण मन्दिर—गुरुद्वारा—बना हुआ है। इसी पवित्र नगरी में सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण मेरे गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज का प्राकट्य हुआ। महाप्रभु श्री गुरुदेव जी क्या है और उनकी क्या शक्ति है, यह सब विषय वर्णनातीत है। श्री प्रभुजी के पिताजी का नाम पूज्य-चरण श्री पण्डित गण्डाराम जी था। श्री पं० गण्डाराम जी ज्योतिष शास्त्र के माने हुए अद्वितीय विद्वान थे। उनके पिताजी पण्डित साईदास जी इस विद्या में ख्याति प्राप्त व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी ज्योतिष विद्या एवं अपनी मानस शक्ति के आधार पर अनेकानेक व्यक्तियों का भला किया था। इसी पावित्र्य कुल में पं० गण्डारामजी के शुभ गृह में श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने जन्म लिया। श्री प्रभुजी के जन्म से पहले ही अनेक प्रकार के मङ्गल-सूचक चिह्न दिखलाई देने लग गये थे। श्री माता भागवन्ती अपनी गोद में हमेशा दिव्य तेज को देखती और आनन्द-विभोर बनी रहती थीं। इस प्रकार से श्री पं० गण्डारामजी भी प्रतिक्षण आनन्दमग्न रहा करते थे। घर में हर समय सुख-शान्ति और मंगल बना रहता था। श्री प्रभुजी के श्रीमती माता भागवन्ती के उदर से प्रकट होने से पहले तत्र तत्र और भी अनेक शुभ लक्षण प्रकट होने लगे थे। इससे आस-पास के सभी लोग यह भली प्रकार से समझ गये थे कि किसी महापुरुष का अवतार यहाँ निकट भविष्य में सम्भव है।

संसार में यह उक्ति प्रख्यात है कि :—

यस्मिन देशे वसेद्योगी ध्यान-योग विचक्षणा।
सोऽपि देशो भवेत् पूतः किम् पुनस्तस्य बान्धवाः॥

जिस देश में कोई एक ध्यान योगी निवास करता है वह देश स्वतः ही पवित्र हो जाता है और उस योगी के भाई-बन्धु एवं कुटुम्ब-कबील का तो कहना ही क्या। यह लोकोक्ति एक साधारण ध्यानाभ्यासी व्यक्ति के लिए कही गयी है किन्तु जहाँ पर परिपूर्ण सिद्धों के महासिद्ध परम योगेश्वर स्वयं प्रकट हों उस देश एवं भाई-बन्धुओं के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है। श्री आनन्दकन्द प्रभु जी इन्हीं विशेष लक्षणों को लेकर इस भू-मण्डल पर अवतरित हुए थे। निश्चय ही इनके उद्भव के रहस्य को सहज में समझाना बहुत कठिन सा ही है। अतः केवल इतना ही लिख देना पर्याप्त होगा कि हिमालय से आने के बाद उन्होंने अनेक जगहों पर एक ही साथ जो निर्माणकार्य किये उनमें से अमृतसर में पं० गण्डाराम जी के घर में प्रकट होना अपना विशेष महत्त्व रखता है। श्री आनन्दकन्द प्रभु जी ने विक्रम सम्वत् १९४५ चैत्र शुक्ला नवमी बृहस्पतिवार तदनुसार सन् १८८८ ई० में पं० गण्डाराम जी के घर में जन्म ग्रहण कर सभी को कृतार्थ किया। इस वर्ष चैत्र शुक्ला रामनवमी विक्रम सम्वत् २०४५ तदनुसार ईस्वी सन् १९८८ को शत-वर्ष पूरे हो गये हैं। अर्थात्—अब से ठीक सौ वर्ष पूर्व इसी रामनवमी के पावन दिवस को श्री प्रभु जी ने अपने आपको प्रकट किया था, जिनकी कृपा के फलस्वरूप देश और विदेश में सर्वत्र योग-प्रचार की धूम मच गयी। यहाँ इस लेख में हमने केवल मात्र उन दीन-बन्धु जी के जन्म ग्रहण करने की सूचना मात्र दी। जन्म ग्रहण करने के बाद जिस-जिस प्रकार की बाल-लीलायें उन्होंने कीं एवं मङ्गलमय ज्ञान और योग का उदय कैसे होता रहा यह सब हम आगे के अपने लेखों में क्रमशः बतलाते रहेंगे। ●

—चैत्र शुक्ला १५ सं० २०४५

सिद्ध-धाम सवांई

★ श्री 'दिव्य'

सिद्धगुफा की उस धरती को, आओ करें प्रणाम।
जिसके कण-कण में रमते हैं, योगेश्वर प्रभु राम॥

आत्मलीन मन हो जाता है, मिट जाता दुख-दाह।
यहाँ योग की गंगा का, बहता है सतत् प्रवाह॥

शक्तिपात के स्रोत सिद्धियों के दाता अभिराम।
पत्ता-पत्ता बोल रहा, 'जय' योगेश्वर प्रभु राम॥

भस्मीभूत यहाँ हो जाते, विषय, वासना, काम।
सिद्धगुफा की पुण्य धरा को, आओ करें प्रणाम॥

सम्पादकीय :–

गुरु पूर्णिमा का पावन पर्व

[आषाढ़ शुक्ला १५ संवत् २०४८ वि०]

व्यास पूर्णिमा का मंगलमय पर्व हमारे अपने देश में सर्वत्र गुरु-पूर्णिमा के रूप में उल्लास और उत्साह पूर्वक मनाया जाता है। संसार में ईश्वर प्रदत्त ज्ञान-राशि का वितरण गुरु परम्परा द्वारा ही सृष्टि में सदा से होता चला आया है। गुरु-परम्परा ही एक ऐसी आदर्श परम्परा है जो सृष्टि के उस आदि तत्व का रहस्योद्घाटन किया करती है, जो अदृश्य, अलख और अगोचर रहकर ही सबका कल्याण किया करता है, सबका भार-वहन किया करता है, सबका नियन्त्रण किये रहता है, सबको सबके कर्मफलों का यथोचित फल प्रदान किया करता है, जो सर्वगुणागार होते हुए भी निर्गुण, निराकार, निर्लेप, निरञ्जन बना हुआ है, जिसे सन्तों और सुकवियों ने आनन रहित सकल रसभोगी, बिनु वाणी वक्ता बड़योगी कहकर परिभाषित किया है, वेदों ने भी जिसे अपाणिपादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षु स शृणोत्य कर्णः कहा है, सूर्य चन्द्र और असंख्य ज्योति पुञ्ज सितारे जिसकी आभा से ही आभासित होकर संसार को ऊर्जा और प्रकाश प्रदान किया करते हैं, योगियों और साधकों ने जिसे अपनी हृदय गुहा में ही प्रत्यक्ष करने में अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया है, जो गिरा अनयन नियन बिनु वाणी जैसी स्थिति में आकर औरों को कुछ भी बता पानेमें अपने को असमर्थ-सा अनुभव करने लगते हैं। ऐसा है यह तत्व।

गुरु शब्द का अर्थ ही होता है—वह शक्तिमान जो हृदय के अज्ञान अन्धकार का नाश करके उसे आलोक से जगमग और जाग्रत कर दे। शिष्य के अन्तर में निहित उसकी पाशविक प्रवृत्तियों को दैवी प्रवृत्तियों में परिवर्तित करदे। जो लोक-कल्याण कर देने की सहज प्रवृत्ति रखते हैं। मानव सेवा जिनका स्वाभाविक धर्म होता है, जो अपनी किसी कृपा के लिए शिष्य से उसकी आन्तरिक श्रद्धा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रतिफल की आकांक्षा नहीं रखते, वे ही इस गुरु-परम्परा में सद्गुरु कहलाते हैं। और ऐसे ही सद्गुरुओं के बारे में गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः एवं गुरुः साक्षात् परब्रह्म जैसे ऊँचे भावों की सृष्टि हुई है। सद्गुरु के सम्मान में सद्शिष्यों की इससे ऊँची भावना और क्या हो सकती है?

लेकिन नहीं, सद्गुरु के प्रति सद्शिष्य के हृदयोद्गारों की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। हिन्दी भाषा के एक सन्त कवि, अपने मानसिक उद्गारों को अपनी कल्पना का आश्रय देकर इससे भी और अधिक ऊपर उठाकर ले जाते हैं। गोबिन्द और गुरु दोनों ही अपने दिव्य रूप में

शिष्य को साथ-साथ दर्शन देने की कृपा करते हैं। दोनों उसके सामने हैं। शिष्य सन्देह में पड़ जाता है कि इन दोनों में से पहले किसके चरणों में झुकूं। गोविन्द के या गुरु के चरणों में ? कौन इनमें बड़ा और कौन छोटा है ? वह दुविधा में है। एक निश्चय पर नहीं पहुँच पा रहा है। उसकी संशयात्मक बुद्धि का निवारण करने के लिए सन्त कवि की यह रचना उसके कानों में गुञ्जायमान होने लगती है :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागु पाँय।
'बलिहारी गुरु आपको, जिन गोविन्द दियो मिलाय' ।।

सद्‌शिष्य का सन्देह मिट जाता है, वह गोविन्द को नमन न करके अपने सद्‌गुरु को पहले प्रणाम करता है और उनकी स्तुति करते हुए कहता है, हे मेरे गुरुदेव आपही मेरे लिए प्रथम स्तुत्य और नमनीय हैं क्योंकि आपकी कृपा से ही मुझे जगदाधार गोविन्द के दिव्य दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हो पाया है। कितना अकाट्य तर्क है यह सद्‌गुरुदेव की वरीयता का।

सन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने इसीलिए तो गुरुदेव की महत्ता के सम्बन्ध में कहा है :—

'जिनका स्मरण करते ही शिष्य में समस्त विद्याएं आ जाती हैं उन श्रीगुरु चरणों की मैं वन्दना करता हूँ। जिनका स्मरण करते ही काव्य-शक्ति आ जाती है, सारी साधनायें सफलता के बिन्दु पर सहज ही आ पहुँचती है, सब प्रकार की रसाल चमत्कृतायें जिह्वा के अग्र भाग पर आ उपस्थित होती हैं, जिनके स्मरण मात्र से काव्य की मधुरता के आगे अमृत भी फीका पड़ जाता है, रहस्यमय ज्ञान के परदे खुल जाते हैं। सम्पूर्ण आत्मबोध जिनके संकेत मात्रसे प्राप्त हो जाता है उन अपने श्रद्धेय गुरुदेव की मैं सादर वन्दना करता हूँ। जगत में मुझे कोई ऐसा उपमान नहीं मिल पाया जिसे मैं अपने गुरुदेव की उपमा में रख सकूं। सचमुच वे अनुपम हैं, समस्त संसार को मन्थन करने वाला जो काम-विकार है उस काम-विकार को नष्ट करने वाले कामारि शिव मेरे गुरुदेव ही हैं। जिस पर भी गुरुदेव की कृपा दृष्टि पड़ जाती है, जिसका भी स्पर्श उनका कोमल कर लेता है उसका तत्काल कल्याण हो जाता है। जिनका चारु-चरित्र आकाश से भी अधिक स्वच्छ निर्लेप है, सागर से भी अधिक गम्भीर और मर्यादाशील है, कैसे, कहाँ तक मैं उनके बहुसंख्यक गुणों का वर्णन करूं।'

सन्त ज्ञानदेव जी के ये शब्द हैं, जिनका उल्लेख हमने यहाँ किया है। उनके तथा अन्य मनीषियों के सद्‌गुरुदेव के महत्व में और अधिक विचारों का यहाँ देना विस्तारभय से सम्भव नहीं है। संक्षेप में इतना लिख देना ही पर्याप्त है कि मनुष्य मात्र के आध्यात्मिक उत्थान और उसके त्रय-तापों के उन्मूलन की अमोघ औषधि यदि यहाँ कोई है तो वह सद्‌गुरु तत्व में

ही निहित है जिसे विरले भाग्यशाली शिष्य ही अपने सद्प्रयत्नों से पा लिया करते हैं। यह प्राप्ति विशेष रूप से श्रद्धालु शिष्यों को सहज ही हो जाया करती है। जो अश्रद्धालु होते हैं वे न तो जीवन की अमूल्य निधि ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं न ज्ञान-प्रदाता अपने सद्गुरुदेव को ही। गुरुपूर्णिमा के इस पावन पर्व पर हम और आप सभी अपने परम पूज्य आराध्य, सिद्धियों और योग-ऐश्वर्यों के आगार विश्व-विश्रुत सद्गुरुदेव अनन्त श्री-विभूषित श्री चन्द्रमोहनजी महाराज और उनके श्री सद्गुरु महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज की अपार कृपाओं को स्मरण करते हुए उनके पावन चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करें और उनसे ही यह अनुरोध करें कि हमें अपने निर्देशित उस योग-साधनः के मार्ग से कभी भी दिग्भ्रमित न होने दें जिसे आपने दीक्षा-मन्त्र के रूप में हमें दिया था। अपने कर्तव्य-पालन का जो विशाल कोष आपने हमारे लिए छोड़ा है, व्यक्ति समाज और देश के नव-निर्माण के लिए योग सिद्धान्तों के प्रचार के लिए जितने साधन आप हम सबके लिए छोड़कर गये हैं वे पर्याप्त से अधिक ही कहे जा सकते हैं, यदि हम सब जिनका सम्बन्ध किसी न किसी रूप में आप से रहा है आपके प्रतिरूप और आपके द्वारा दी गई सद्शिक्षाओं को अपने मन में प्रतिष्ठापित करके निष्काम भाव से कार्य क्षेत्र में समान हृदयों और मनों को लेकर आगे बढ़ेंगे तो कोई कारण नहीं कि आश्रम की प्रवृत्तियाँ जिन्हें गुरुदेव अपने पाँच भौतिक देह का परित्याग करते समय छोड़ गये हैं उन्हें और अधिक गति न दे सकें। सवाई धाम की पावन भूमि को श्रद्धालु गुरुदेव के प्रत्यक्ष रूप के अभाव का जो आघात लगा है उसे हम सबके सम्मिलित प्रयास ही तिरोहित कर सकते हैं एक सिद्ध तीर्थ के रूप में इसे विकसित करके। वैसे सिद्ध तीर्थ तो इसे गुरुदेव ही अपनी अलौकिक लीलाओं से बनाकर गये हैं। हमें तो केवल इसके विकास और फैलाव पर तथा इसकी सुव्यवस्था पर अपना ध्यान केन्द्रित करना है।

गुरु पूर्णिमा का यह पावन पर्व हम सभी गुरु भाई-बहनों के लिए यही शुभ-सन्देश लेकर आया है कि हम अनुशासन, व्यवस्था और पारस्परिक सहयोग की मर्यादाओं को पहचानें और स्वयं के लिए अधिकार से अधिक कर्त्तव्य-पालन के अपने क्षेत्र को जानें। इसी सत्य को उद्घोषित किया है जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण ने अपने अनुपम ग्रन्थ श्री भगवद्गीता में :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

अर्थात् कर्म में तेरा अधिकार है, कर्म के फल में नहीं।

अपने निष्काम कर्त्तव्य पालन का हम सब गुरु पूजन की इस पावन बेला में व्रत और संकल्प ग्रहण करें, यही सन्देश लाती है इस पर्व की व्यास पूर्णिमा।

—सम्पादक

अज्ञान क्या है ?

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य की समझ में जब ज्ञान का स्वरूप अच्छी तरह आ जाता है तब सहज ही उसकी समझ में यह बात अपने आप आ जाती है कि अज्ञान क्या है। फिर भी अज्ञान की पहचान के लिए कुछ लक्षण इस प्रकार बतलाए जाते हैं।

जो केवल महत्व या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही जीता है, जो केवल मान की ही प्रतीक्षा करता रहता है और आदर सत्कार होने से जिसको सन्तोष होता है, जो पर्वत के शिखर की भाँति सदा ऊपर ही रहना चाहता है और अपने उच्च पद से कभी नीचे नहीं उतरना चाहता उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें अज्ञान की ही समृद्धि है।

जिस प्रकार लोग रस्सी में पीपल के पत्ते बाँधकर तोरण बनाते हैं, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्य-कर्मों का तोरण बड़े-बड़े शब्दों से प्रस्तुत करके टाँगता है (आडम्बरपूर्ण शब्दों में अपने पुण्य-कर्मों की घोषणा करता रहता है), जो जान-बूझकर मन्दिर की [illegible] की तरह सदा सिर उठाये खड़ा ही रहता है, जो अपनी विद्या का विस्तृत वर्णन करता रहता है, अपने पुण्य-कर्मों का ढिंढोरा पीटता रहता है और प्रत्येक कार्य केवल लौकिक कीर्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से ही करता है, जो अपने शरीर का ऊपरी ठाटबाट बहुत बढ़िया रखता है, परन्तु उन लोगों को सदा धोखे में रखता है जो उसके फेर में पड़ते या उसके अनुगामी बनते हैं, उसे अज्ञान की खान ही समझना चाहिए।

जिस प्रकार वन में दावाग्नि फैलने लगती है, उस समय जिस प्रकार उस वन में रहने वाले समस्त प्राणियों और वनस्पतियों को समान रूप से उसका दाह सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार जिसके आचरण से सारे संसार को दुःख भोगना पड़ता है, जिसका सहज भाषण भी सब लोगों पर कुल्हाड़ी की तरह आघात करता है और जो अपने छिपे हुए उद्देश्य की सिद्धि करने के लिए विष से भी बढ़कर घातक होता है, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें बहुत अधिक अज्ञान भरा हुआ है बल्कि उसे अज्ञान का भण्डार ही समझना चाहिए, क्योंकि उसका जीवन केवल हिंसामय होता है।

जिस प्रकार मशक वायु के अन्दर भर जाने पर फूल जाती है और दबाने से वह फिर पिचक जाती है, उसी प्रकार जो संयोग और वियोग के कारण बराबर उठता और गिरता या बढ़ता और घटता रहता है, जो अपनी स्तुति होने पर उसी तरह आनन्द से आकाश पर चढ़ जाता है, परन्तु अपनी जरा सी भी निन्दा सुनाई पड़ने पर जो सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है, मान और अपमान के कारण जिसकी दशा उस कागज के समान हो जाती है जो पानी की दो-चार बूँदें पड़ने पर तो भीग जाता है और जरा-सी हवा लगने पर फिर सूख जाता है, तात्पर्य यह है कि जो किसी प्रकार का मनोविकार बिल्कुल सहन नहीं कर सकता, उसके सम्बन्ध में समझ लेना चाहिए कि उसमें पूरा-पूरा अज्ञान भरा हुआ है।

—निवृत्तिनाथ

रमता जोगी, बहता पानी, दोनों की उद्घोषित बानी—
'चलने से जो रुक जाता है, कीचड़ बन जाता वह पानी' ॥ —दिव्य

योगी रमताराम ने अपने प्रवास-शिविर में सभी श्रोताओं और साधकों के यथा-स्थान बैठ जाने पर अपने प्रवचन का आरम्भ आज इस प्रकार किया :—

बच्चो ! पिछली रात के तीसरे पहर के प्रारम्भ में मैं इस संकल्प को लेकर ध्यान में बैठा कि आज साक्षात् परम पुरुष परमात्मा के चरण-कमल के दर्शन और स्पर्शन करके अपने को अवश्य कृतार्थ करूँगा। किन्तु चित्तभूमि पर वृत्तियों का कुछ ऐसा उभार आया कि मैं उसके फलस्वरूप एक ऐसे दुराहे पर जा पहुँचा जहाँ दो यमदूत एक लालाजी की आत्मा को पकड़कर लिये जा रहे थे। कुछ क्षण को दुराहे पर रुककर वे लालाजी से पूछ रहे थे, बोलो जी अब तुमको किस रास्ते से आगे चलना है ? तुम्हारी जैसी इच्छा वैसा ही हम करेंगे। तुम्हारी कामना पूर्ति को मात्र इतना ही अधिकार हमें दिया गया है कि लालाजी जिस रास्ते से यमालय पहुँचना पसन्द करें उसी रास्ते से उन्हें ले आना। बोलो, तुम किस मार्ग से चलना पसन्द करोगे। एक रास्ता करीब का है लेकिन कण्टका-कीर्ण है। दूसरा लम्बा है लेकिन साफ सुथरा है।

लालाजी ने तुरन्त ही जवाब दिया—देखो जी लम्बा और करीब क्या होता है यह तो अपन कुछ जानते नहीं है—न यह समझते हैं क्या कष्टप्रद और क्या सुखप्रद है। अपन तो सिर्फ इतना जानते हैं कि जिस रास्ते से चलने पर चार टका मिल सकें उसी रास्ते से आप अपन को ले चलें। अपना मतलब तो हमेशा कुछ न कुछ अर्थ संचय करना रहा है। हम तो अर्थ बिना जीवन को व्यर्थ समझने वालों में से हैं।

× × ×

यमराज के दूतों और लालाजी की अलक्ष-आत्मा के बीच यह कथनोपकथन चल ही रहा था कि इसी बीच हमने देखा देवर्षि नारद अपना तान-तम्बूरा लिये हुये सहसा दोनों के बीच में आ खड़े हैं और यमदूतों से कह रहे हैं—क्या तुमने सिद्धयोगियों का यह शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं सुना कि 'अन्तमता सो गता' अन्त की गति अन्तिम मति के अनुसार ही हुआ करती है। लाला का सारा जीवन कौड़ियों के संग्रह में ही बीता है। कौड़ी योनि की ओर चलना ही इसे रुचिकर लग रहा है सुखप्रद और कष्टप्रद मार्ग इसकी समझ में आ ही नहीं सकता है। ऐसी आत्मायें तो उसी मूढ़ गति के मार्ग पर गमन करने ही अधिकारिणी बनती हैं जिनके बारे में बहुचर्चित लोकोक्ति प्रसिद्ध है—

रात गमायी सोय कर, दिवस गमाया खाय ।
हीरा जनम अमोल है, कौड़ी बदले जाय ॥

● डा० श्री शिवानन्द

—: स्वान्तःसुखाय :—

महात्मा तुलसीदास ने रामचरितमानस के रूप में संस्कृति और धर्म का मूर्तिमान वाङ्मय विग्रह प्रस्तुत कर जनसमाज का अशहणीय हित किया। रामचरितमानस भारतीय धर्म, दर्शन, नीति, संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्था के साहित्य के रूप में एक अनुपम कृति है। इसकी उत्कृष्टता इस तथ्य में निहित है कि विद्वत्समाज एवं जनसाधारण में इसकी लोकप्रियता समान है। काव्य की श्रेष्ठता का मापदण्ड उसका गंगा की भाँति सबके लिए हितकर होना है। इस दृष्टिकोण से रामचरितमानस अप्रतिम ग्रन्थ है। किन्तु इस लोक-कल्याणकर ग्रन्थ के आदि में कृतिकार महात्मा तुलसीदास ने यह घोषणा नहीं की कि जनहित उनका उद्देश्य है। उनका उद्घोषित प्रयोजन है—स्वान्तःसुख, अपने अन्तःकरण का सुख।

प्रसिद्ध एवं उद्भट विद्वान मम्मट ने काव्य-निर्माण के प्रयोजनों की चर्चा करते हुये कहा कि यश की प्राप्ति, सम्पत्ति-लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, विपत्ति-विनाश, शिवेतर-क्षति तथा पर-निर्वृत्ति अर्थात् अपूर्व आनन्दानुभूति के लिए ही काव्य-ग्रन्थ उपादेय (प्रयोजनीय) हैं। विद्वद्वर भरत मुनि, आलंकारिक आचार्य भामह, रीतिवादी आचार्य वामन, तदनन्तर ध्वनिवादी आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य भोजराज, आचार्य कुन्तक आदि ने विभिन्न प्रयोजनों की चर्चा की है, किन्तु सब प्रयोजनों में मूर्धन्य अलौकिक आनन्द की प्राप्ति है। यह आनन्द रसास्वादनरूप में निष्पन्न होता है। इसकी अनुभूति के समय रसवेत्ता को अन्य ज्ञेय वस्तुओं का आभास भी नहीं रहता है। अतएव इसे ब्रह्मानन्दसहोदर कहा गया है। काव्यरसास्वादन विलक्षण आनन्द है। किन्तु क्या यह रसानुभूतिजन्य सुख कवि को भी प्राप्त होता है, यह विवादग्रस्त विषय है। जहाँ काव्य के कुछ अन्य प्रयोजन सामाजिकों अथवा सहृदयजन के लिए हैं, कदाचित् यह रसचर्वणाजनित सुख भी कवि के लिए पूर्णतः नहीं है। आंशिक रूप में ही इसे कवि के लिये स्वीकार करने पर भी कवि की रसानुभूति कुछ पृथक है, विलक्षण ही है। प्रत्येक दशा में मौलिभूत प्रयोजन अथवा मुख्य एवं पारमार्थिक प्रयोजन पर निर्वृत्ति (अथवा सहज आनन्दानुभूति) ही है, जिसकी उपलब्धि किसी भी (विलक्षण) रूप में स्वयं कवि को भी अवश्य होती है।

सृजनात्मक प्रवृत्ति की संतुष्टि कवि को अनिर्वचनीय सुख प्रदान करती है। चित्रकार अपनी तूलिका के द्वारा, शिल्पी पाषाण पर अंकन के द्वारा तथा कवि सुन्दर तथा भावमय शब्द-चयन के द्वारा प्रकृति का चित्रण करता है, सौन्दर्य का सृजन करता है। कला-

कार की भाँति ही वैज्ञानिक भी पहले सौन्दर्य से संप्रेरणा उपलब्ध करता है, तदनन्तर अपने ढंग से उसका चित्रण करता है और उसके माध्यम होते हैं—तर्कसंगत सिद्धान्त एवं सूत्र (फार्मूले) वैज्ञानिक के चित्रण में बौद्धिक सौन्दर्य का पुट होता है और वह भी एक प्रकार का कलाकार ही होता है, जो सत्य की अविश्रान्त खोज में अपनी शक्तियों का होम कर तथा सांसारिक भोगैश्वर्य को तिलांजलि देकर, सत्य के समावेश द्वारा प्रकृति का बौद्धिक चित्रण कर देता है। दार्शनिक भी एक कलाकार होता है, जो सत्य के अनुसंधान हेतु अथक स्वाध्याय, मनन, चिन्तन में निमग्न रहकर प्रकृति के रहस्यों की व्याख्या के द्वारा उसका मानसिक चित्रण करता है तथा नवीन विचारों का सृजन करता है। वैज्ञानिक जीवन में स्पष्टता और सुविधा लाता है तथा साहित्यकार जीवन में रस की उत्पत्ति करता है। कला, विज्ञान और दर्शन के रूप में भी कवित्व का ही स्फुरण होता है।

सर्जनात्मक प्रवृत्ति, प्रबुद्ध होने पर, कलाकार को नव-निर्माण के लिए विवश कर देती है। अनन्त परिश्रम, मनन, चिन्तन, अनुभूति तथा प्रयोग आदि क्रम के द्वारा उसे ज्ञान-ज्योति की एक झलक मिल जाती है। सत्यान्वेषी काल के भाल को उद्भासित कर देता है और अन्धतमिस्र को ज्योतिपुंज के द्वारा आलोकित कर स्वयं धन्य हो जाता है। वेद महावाक्य है 'सत्यं ज्ञान-मनन्तं ब्रह्म'। कवि 'सत्य' का अवलम्बन कर ब्रह्म के समीप आ जाता है। वह गृहीत ज्योति की झलक में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का पुट देखता है तथा उसे मूर्तरूप देने का प्रयास करता है। इस स्थिति में वह नवरचना के द्वारा अवश्य ही जनकल्याण का सूत्रपात करने में समर्थ है, सक्षम है। वह मन में उदित भावों से झंझावात के कारण विवश हो जाता है कि प्राप्त नयी झलक को एक सुमधुर रूप प्रदान कर दे। कदाचित् जिस प्रकार आत्मविभोर होकर पक्षी अण्डा सेने में एक विवशता का अनुभव करता है, जिससे कि बाल पक्षी का सृजन सम्भव होता है, उसी प्रकार तन्मय होकर कलाकार भी अपनेमें एक बाध्यता का अनुभव करता है, जिससे कि नयी रचना का सृजन सम्भव होता है। यह नयी रचना उसकी सर्वश्रेष्ठ एवं भव्यतम निधि हो जाती है, जिसकी रक्षा एवं अमरता के हेतु वह सहर्ष अपने प्राणों की बाजी लगा सकता है। यह रचना उसे प्राणप्रिय होती है। सृजन-क्रिया स्वयं ही एक अनूठा सुख होता है और वही कलाकार का सबसे अधिक बढ़कर पुरस्कार है, जो उसे सृजन-काल में स्वतः प्राप्त होता है। प्राकृतिक सौन्दर्य का आभ्यन्तर ग्रहण (ग्रंहण) तो सुखद है ही, किन्तु कला के रूप में पुनः उसका बाह्य सृजन एक अनिर्वचनीय सुख है। सृजनात्मक क्रिया के साम्य के कारण ही कवि को ईश्वर की कोटि में माना गया है, अथवा ईश्वर ही मानो कवित्त-सृजन के द्वारा कवि में अपने ईश्वरत्व का संदर्शन करा देता है। 'कवि उर अजिर नचावहिं वाणी'। मन्त्रद्रष्टा ऋषि की भाँति वह भी मानता है, 'यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः' अर्थात् मैं इस कल्याणी को मनुष्यमात्र के लिए दे दूँ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः　　—वेद

वेद में 'कवि' ब्रह्म का भी विशेषण है। मनीषी का अर्थ है प्रज्ञावान्, राधाशक्ति अथवा आह्लादिनी शक्ति से युक्त। कवि द्रष्टा होता है, वह ब्रह्म के सदृश द्रष्टा होता है। जगत दृश्य है, कवि 'क्रान्तदर्शी' होकर भीतर

और बाहर देखता है। उसे सम्यक् क्रान्तदर्शी होने के कारण अन्तः तथा बाह्य का समन्वय करना होता है। 'देखूं सबके उर की डाली'। संवेदनशीलता के कारण तथा क्रान्तदर्शी होने से ही उसके काव्य में 'चमत्कार का पुट' आ जाता है।

कवि कर्म व्यापक होता है। कवि देश, विश्व, समस्त समाज एवं प्राणिमात्र के प्रति जागरूक होता है। गहन साधना एवं अनुभूति का परिपाक होने पर उसका अन्तस्थल काव्यधारा के रूप में प्रस्फुटित होकर प्रवाहित होने लगता है। कवि संसार के प्रच्छन्न विधायक होते हैं। 'कविं पुराण-मनुशासितारम्' (गीता)। यहाँ कवि का अर्थ 'सर्वज्ञ-प्रभु' है। सचमुच कवि लोक में रसधारा प्रवाहित कर दैवी कर्म का सम्पादन करता है, जिससे अपार जनहित होता है, जो लोकमंगलकारक होता है। 'कविः करोति काव्यं, रसं जानाति पण्डितः'। अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः। कवि काव्य-जगत् का प्रजापति ही है।

यद्यपि धन, यश, कीर्ति इत्यादि कवि को पुरस्कार स्वरूप अथवा सत्कार स्वरूप प्राप्त होते हैं, तथापि वह उन्हें अपना उद्देश्य नहीं मानता है, उन्हें गौण एवं नगण्य मानता है। यश एवं प्रतिष्ठा की इच्छा से प्रेरित होने वाला व्यक्ति सात्त्विकभाव से सत्कर्म नहीं कर सकता है तथा वह यश प्राप्ति के कुचक्र में फँसकर यशप्राप्ति के अवसर ही ढूंढता रहता है। कवित्व स्फुरण उसकी पूंजी है, जिसके फलस्वरूप उसे नाना विधि लाभ सदैव प्राप्त होते रहते हैं। सत्य का भावुक उपासक, कवि अपने उद्देश्य को विस्मृत न कर, सामान्य सुखों के प्रपंच से अलुब्ध रहकर, अपनी साधना में अनवरत लगा रहता है, भोगभ्रमित होकर पथभ्रष्ट नहीं होता है। कवि की उदात्त काव्य-साधना किसी भी तपस्वी की घोर तपस्या से कम कठिन नहीं होती है। कवि यथार्थ सत्य की खोज कर अन्धकार में प्रकाश दान करता है। सत्य ही संसार का श्रेष्ठ धन है। अतएव सत्य के अन्वेषण से बढ़ कर जीवन का उपयोग अन्य कुछ नहीं है। सत्य ही सभ्यता का जनक है तथा पवित्रता एवं श्रेष्ठता का सिद्ध साधन है। सत्य का क्षेत्र अनन्त होता है। विश्व का समस्त ज्ञान कवि को ज्ञापणीय होता है। कोई साहित्य, पवित्र एवं गोपनीय की आड़ में होकर भी उसकी पहुँच से बाहर नहीं रह सकता है। वह जिन अनुभूतियों एवं परिणामों पर पहुँचता है, स्वतन्त्र होकर वह उन्हें सचाई से यथावत् व्यक्त करता है। उसे कोई दण्ड का भय दिखाकर भी मार्ग भ्रष्ट नहीं कर सकता है।

वे मानवता के घोर शत्रु हैं, जो ज्ञान-पथ के राही कवि के मार्ग को अवरुद्ध करने का प्रयत्न करते हैं अथवा उसे चिर अर्जित ज्ञान-सामग्री के सुलभ होने में अथवा उसकी पूर्ण भावाभिव्यक्ति होने में बाधा डालते हैं। कौन सा देश, काल और समाज है, जहाँ सत्य की वाणी का पत्थर, बरछी, सूली, गोली, गाली से स्वागत नहीं हुआ है ? फिर भी मानव ने सदा सत्य का साहसिक अन्वेषण किया और उसे स्वतन्त्र अभिव्यक्ति भी दी। उसकी यह अदम्य प्रवृत्ति एवं साहस ही उसके समस्त विकास का आधार है, उसकी समस्त प्रगति का मेरुदण्ड है।

गाँधी बनने पर लोग गाली ही नहीं देते हैं, उन्हें गोली मारकर ही सन्तोष मिलता है, किन्तु गाँधी के स्वर को गोली भी बन्द नहीं कर सकती है। समाज में सत्कार की आशा

और इच्छा छोड़कर आत्मसन्तोष के लिए (स्वान्तःसुखाय) ही कर्म करने से मनुष्य निराशा से बच सकता है। इस संसार में त्याग, तपस्या, सत्य और अहिंसा का अन्त-प्रायः गोली, सूली और बरछी ही है, भले ही बाद में लोग शहीद कहकर पूजा करें। सत्य के आराधक, समाज के सच्चे के मन का दर्द कोई एक ही पहचानता है। वह समाज के लिए जीता और मरता है और समाज प्रायः उसका अपमान ही करता है। तथापि वह अपकार करने वाले को क्षमा करता है और बदले में उपकार करता है। महात्मा ईसा ने सूली चढ़ानेवाले के लिए भी ईश्वर से प्रार्थना की। स्वामी दयानन्द ने विष देने वाले को धन देकर और भगाकर उसकी प्राणरक्षा की। महापुरुष की आत्मा की ऊँचाई का माप-सहनशीलता और क्षमा होते हैं। महापुरुष का किसी से राग-द्वेष नहीं होता है और वह अपने मिशन के लिए जीता और मरता है। सूर्य स्वयं तपकर संसार को प्रकाश और जीवन देता है। किसी की त्याग तपस्या का मूल्यांकन क्या कभी हो सकता है तथा क्या पुरस्कार सम्भव हो सकता है? स्वान्तःसुख ही एकमात्र पुरस्कार है। उनकी साधना का पुरस्कार के लिए काम करने वाला व्यक्ति सच्चा नहीं हो सकता है तथा वह निम्न कोटि का व्यक्ति होता है। सत्य प्राप्ति से उत्पन्न आत्म-सन्तोष उदात्त पुरस्कार होता है।

सत्य की खोज करने में कापरनिकस, गैलेलियो, न्यूटन, सुकरात आदि को भी कितना यातनापूर्ण अपमान सहन करना पड़ा? यदि सत्य कहना और सुनना कष्टप्रद न होता तो लोग ईसा पर पत्थर क्यों मारते, उन्हें सूली पर क्यों चढ़ाते, मार्टिन लूथर तथा ब्रूनो को जीवित ही क्यों जला देते? प्रायः असत्य प्रिय एवं सुखद प्रतीत होता है। सत्य को कहने और सुनने का साहस विरले व्यक्तियों में होता है। ऐरहीनियस ने जब स्टाकहाम विश्वविद्यालय को अपने नये विचार प्रस्तुत किये तो उसे प्रताड़ना प्राप्त हुई और घोर अपमान सहना पड़ा, जब कि कुछ वर्षों के पश्चात् उसे उन्हीं विचारों पर नोबल पुरस्कार मिला। ईर्ष्यालु तथा विचारहीन रूढ़िवादी व्यक्ति प्रायः सत्यानुसंधानरत मनीषियों की अवमानना ही करते हैं। न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्। यथा किराती करिकुम्भजाता मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥ अर्थात् जो किसी के गुणों को नहीं जानता है, वह उसकी निन्दा ही करता है। भीलनी मोती को छोड़कर चोटली को ही पसन्द कर लेती है। अतएव सत्य का आराधक निन्दा स्तुति से ऊपर उठकर सत्यान्वेषण करने में अपनी कृतार्थता समझता है।

मानव तो मरणधर्मी है, किन्तु उत्कृष्ट कवि अपनी कृति के द्वारा अमर हो जाता है, यद्यपि संसार में विरले ही उसका महत्व समझ पाते हैं। काव्यानां तत्त्वं किमपि जानाति विरलो भुवि। मार्मिकः को मरन्दानां अन्तरेण मधुव्रतम्॥ काव्य के तत्व को संसार में कोई एक जानता है, पुष्प-रस का मर्म भौंरे के अतिरिक्त अन्य कौन जानता है? सरस्वती का वरदान कवि को भौतिकलाभ न देकर जीवन-काल में एक अजीब मस्ती और मरणोपरान्त अमरता दे देता है। लक्ष्मी का प्रसाद मनुष्य को सुख के समस्त साधन, वैभव और ऐश्वर्य तो दे सकता है, किन्तु न सुख दे सकता है, न अमरता ही। यह तो सदा कार्यरत साधक को सत्यान्वेषण के पथ में मिल पाना निश्चित रहता है।

-: तुझे सगुण कहें या निर्गुण ? :-

श्रुति का कहना है—
"ईश्वर एक ही है,
लेकिन उपासक उसकी बहुविधि उपासना करते हैं।"
उपासकों की भक्ति-भावना के कारण
उनकी बहु उपासना होती है।
लेकिन वही, अज्ञान-जनता के भ्रम का कारण बनी है।

ईश्वर अव्यक्त, अरूप,
वहाँ चित्रकला का क्या प्रवेश ?
फिर भी काल्पनिक संकेतों की रचना कर,
चित्रकार, अपनी, अपनी रुचि के अनुसार,
उसके चित्र, प्रतिमा आदि बनाते हैं।
और भक्त जन, ऐसी इस एकदेशीय सूरत में
उस सर्वव्यापक निर्लिप्त परमेश्वर का भावन करने लगते हैं।

कोई ध्यान-योगी है,
जो, ईश्वर की ज्योतिर्मय ओंकार-स्वरूप में उपासना करते हैं।
और उपपत्ति बताते हैं :
कि ईश्वर को विश्व-रचना का शौक हुआ,
तब उसमें से "ॐ" नाद निकला।
फिर आगे उसीकी तीन कलाओं के रूप में तीन फांकें हुईं।
और उसमें से तीन देवता और तीन जगत् निर्माण हुए।
यह सारी उपपत्ति,
ध्यान के आलम्बन के रूप में गृहीत की जाय,
तो भी ईश्वर-स्वरूप के वह बहुत ही इधर की है।
वास्तव में तो,
वह ईश्वर को लागू नहीं ही नहीं हो सकती !
जो स्वयं-तृप्त, नित्य-परिपूर्ण आनन्द-स्वरूप है,
उसमें छन्द कहाँ का ? नाद कैसा ? और क्या कैसे ?

कोई धर्मपरायण है,
जो ईश्वर की अवतार-स्वरूप में भक्ति करते हैं।
कहते हैं,
ईश्वर समय-समय पर अवतार लेता है,
साधु-परित्राण करता है,
धर्म को संवारता है।
लेकिन वह समष्टि-स्वरूप
उसका न आदि है न अन्त।
न जनम न मृत्यु।
केवल निर्विकार!

ईश्वर की निर्विकारता को लक्ष्य करके,
कोई उसे शालिग्राम आदि पाषाण प्रतीकों में पूजते हैं।
कहते हैं—मनुष्य की तुलना में पाषाण कैसा निर्विकार है।
उसे न राग-द्वेष, न लोभ-मत्सर,

इस अवतार-कार्य की उसमें सम्भावना भी कैसे हो सकती है?
यह सब होता रहता है, यह बात सही है।
लेकिन वह माया का साधन है।
इसका उसे क्या लाभ!

लेकिन कहाँ पाषाण, और कहाँ परमेश्वर!!
पृथिव्यादि पंच-भूत, प्रलयांत में जब शून्य में विलीन हो जाते हैं।
उस समय भी जो उस शून्य से भिन्न बचा ही रहता है;
उस परिशुद्ध निर्विकार-स्वरूप की किससे उपमा दी जाय?
वह तो अन्तर्बाह्य ओत-प्रोत है।
इन्द्रिय द्वारा उसकी उपासना भले ही की जाय,
लेकिन इन्द्रिय द्वारा उसका दर्शन तो हो नहीं सकता!

वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ से भिन्न, क्षराक्षरातीत,
सृष्टि के उत्पत्ति-स्थिति-लय का जहाँ किंचित् भी सम्पर्क नहीं,
ऐसा पुरुषोत्तम, सबके हृदय में विराजमान है।
वहीं उसका दर्शन लेना चाहिए।

● डॉ० श्री मोतीलाल जी गुप्त

निष्काम कर्मयोग :–
एक व्यावहारिक विवेचन

सन् १९६५ की बात है। मैं टोकियो की विश्व-ध्वनि विज्ञान कांग्रेस में उपाध्यक्ष के रूप में आमन्त्रित किया गया था। आतिथ्य-प्रदाता थे जापान ध्वनि-विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष प्रो० मासाओ ओनोशी। महासम्मेलन के पश्चात् प्रोफेसर ओनोशी ने मुझे अपने घर पर भी आमन्त्रित किया। जापानी प्रायः घर पर नहीं बुलाते, जो कुछ आतिथ्य-सत्कार आदि करना होता है, होटलों में ही कर देते हैं। मैं इस विषय में भाग्यवान रहा, क्योंकि उसी वर्ष ओनोशी जी के अतिरिक्त हिन्दी के प्रोफेसर दोई जी ने भी मुझे इस प्रकार का गौरव प्रदान किया। जब मैं प्रोफेसर ओनोशी के घर पहुँचा तो द्वार पर ही प्रोफेसर अपनी पत्नी तथा उभय पुत्रियों सहित स्वागतार्थ उपस्थित थे। अभिवादन के रूप में कई मिनटों तक दोनों ओर से झुकने का क्रम चलता रहा और तब घर पर पहनने के चप्पल पेश किये गये, जिन्हें अपने जूते खोलने के पश्चात् पहनकर घर में प्रवेश करना था। घर में एक कमरा तो यूरोपियन ढंग से सजाया गया था, पर शेष सभी कक्ष पूर्णतः जापानी-पद्धति से अलंकृत थे और कुर्सी-टेबिल सोफा के स्थान में गद्दी-तकिए, चौकियाँ थीं। निर्मित भवन के बाहर, चाहर दीवारी के अन्दर जापानी ढंग का एक बगीचा था जिस में नदी, नाले, झरने, पुल, पर्वत अपने लघु काय में लक्षित हो रहे थे।

एक किनारे पर एक गोल कमरा था जिसमें प्रवेश करने हेतु पुनः चप्पलें भी उतारनी पड़ीं। बताया गया—'यह मेरा ध्यान कक्ष है।' यह पूछने पर कि वे किसका ध्यान करते हैं? उत्तर मिला—किसी का नहीं, 'शून्य' का (भारत में शून्य का गणित, दर्शन, प्रतीक, विज्ञान आदि में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है)। एक और प्रश्न मैंने किया, 'ध्यान से क्या कामना है?' उत्तर बड़ा तथ्यपूर्ण था—'कोई भी कामना नहीं करते, क्या यह आपकी गीता में प्रतिपादित 'निष्काम कर्म' के अनुरूप नहीं है?' मैं चौंका, मैं प्रोफेसर ओनीशी को केवल ध्वनि-विशारद के रूप में ही जानता था। किन्तु उनकी भारतीय दर्शन में भी गम्भीर गति लक्षित हुई और साथ ही यह भी विदित हुआ कि भौतिक समृद्धि से परिपूर्ण जापान के चिन्तक भी भारतीय दर्शन की उच्चता से कितने प्रभावित हैं। इस प्रसंग में प्रोफेसर ओनीशी से किया गया वार्तालाप बहुत उपयोगी प्रतीत हुआ। जापान में एक बात और देखी गयी। जापानी अपने घर में पूर्णतः जापानी हैं, परम्पराओं का निर्वाह करने वाले, अपनी संस्कृति का पालन करने वाले हैं; किन्तु घर से बाहर भौतिक क्षेत्र में यूरोपियन

है—वेशभूषा, विचारधारा, कार्यक्षमता आदि उसी प्रकार की है। किमोनो (जापानी वस्त्र विशेष) पहनने वाले या तो फैशन-शो, व्यावसायिक-वस्त्र प्रदर्शनी में या बड़े स्टोरों में ग्राहकों का सतत् अभिवादन करते हुए दिखाई देते हैं अथवा जापानी होटलों में परिचारिकाओं के रूप में। यहाँ जापानी परम्परा तथा आधुनिक भौतिकवाद का उपयोगी समन्वय मिलता है।

जापान के अनुरूप ही पश्चिमी देशों में कर्मक्षेत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है और बिना किसी बाह्य नियन्त्रण के अपने-अपने कार्यों में संलग्न कर्त्तव्यश्रेष्ठी व्यक्ति देखे जाते हैं। प्रोफेसर ओनोडोने तो निष्काम कर्म की बात कही, पर पश्चिमी देशों के व्यक्ति इस महान सिद्धान्त से इतना परिचित नहीं। हाँ, जहाँ भारतीय विद्याओं का शिक्षण होता है, पूर्वी तथा पश्चिमी दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन होता है, आध्यात्मिकता के विविध प्रश्नों पर विचार-विनिमय होता है, वहाँ शैक्षिक स्तर पर गीता में प्रतिपादित 'निष्काम कर्म' पर भी विचार होता है। प्रायः भारतीयों पर आलसी, निष्क्रिय, दिशाहीन होने आदि का दोष लगाया जाता है; उनके क्रिया-कलाप में शैथिल्य की ही प्रधानता बतायी जाती है तथा कार्य पद्धति को अनुपयुक्त बताकर संवेदना प्रकट की जाती है। हमारे विचार से यह दृष्टिकोण का अन्तर है, वास्तविकता को न समझने की भ्रान्ति है और कुछ लोगों की प्रमादमयी स्थिति का परिणाम है। जहाँ श्रीमद् भगवद्गीता जैसा कर्मयोग का अद्वितीय ग्रन्थ विद्यमान है, जिसका कर्मयोग विश्वचर्चित है और जो विश्व के बौद्धिक स्तर पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका है, उस देश के निवासियों को इस प्रकार के लाञ्छन से दूषित करना भ्रान्त बुद्धि का ही परिणाम है या सच्चे मूल्यों को न समझ पाने की नासमझी है। यह हो सकता है कि हम अपने निर्धारित मार्ग से किञ्चित हट गये हों अथवा परिस्थितियों के कारण तथ्य को देख नहीं पाते हों, पर हमारे सामने जो स्पष्ट निर्देश है, जिस मार्ग के अनुसरण की अपेक्षा है तथा जिसमें हम पूर्ण विश्वास करते हैं, सिद्धान्ततः वही हमारा अभीप्सित लक्ष्य है, वही हमारा अनुकरणीय एवं प्रस्तावित मार्ग है।

कर्ममार्ग में प्रवृत्त करने के लिए गीता विश्व का अद्वितीय ग्रन्थ है, और इसकी विशेषता 'निष्काम कर्म' है; जो यदि विचार से देखा जाय तो एकमात्र मानव सिद्धान्त है—यद्यपि उसकी उपलब्धि अभ्यास एवं साधना साध्य है। गीता में निष्काम कर्मयोग का विद्वत्तापूर्ण हृदयग्राही एवं तथ्यपूर्ण विवेचन हुआ—हो भी क्यों न, जब यह शब्द-राशि एक ऐसी विभूति द्वारा उच्चरित है, जिसकी मान्यता सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है।

●

क्यों कतराता है ?

मृत्तिका के काले घट में बन्द होकर ही आत्मा विकसित होती है;
पवन पुष्प-पुञ्जों में बन्द होकर ही सुवासित होता है;
निर्गन्ध, मद-मृग की नाभि में रह कर ही कस्तूरी बनता है;
नक्षत्र परिधि पर घूमकर ही अपने लक्ष्य की ओर गतिमान होते हैं;
सरस छन्दों में बंधकर ही कवि आनन्द उन्मुक्त होता है,
तू यम-नियम की कैद से, साधक, फिर क्यों कतराता है ?

गुरु पूर्णिमा के उपलक्ष में

गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥

★

शब्द-जालं महारण्यं चित्त-भ्रमण-कारणम्।
अतः प्रयत्नात् ज्ञातव्य तत्त्वज्ञात् तत्त्वमात्मनः ॥

अर्थात्

शब्द-जाल चित्त के भ्रम के लिए कारणीभूत महारण्य है। इसलिए तत्वज्ञ पुरुष के पास से यानी सद्गुरु से आत्मज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।

★

आशा वायुः

दिन-यामिन्यौ सायं प्रातः शिशिर-वसंतौ पुनः रायातः
कालः क्रीडति गच्छति आयुः तदपि न मुंचति आशा-वायुः

अर्थात्

दिन-रात, सुबह-शाम, शिशिर-वसंत फिर-फिर से आते हैं। काल का खेल चल रहा है और हमारी आयु बीती जा रही है। फिर भी आशारूपी वायु (मनुष्य को) छोड़ती नहीं।

—आचार्य शङ्कर

● ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश पालीवाल

-: गुरु पूर्णिमा :-

भारतवर्ष में आषाढ़ सुदी पूर्णिमा सर्वत्र ही गुरु पूर्णिमा के रूप में मनायी जाती है। इसी गुरु पूर्णिमा को व्यास पूर्णिमा के नाम से भी पुकारा जाता है। अज्ञान अन्धकार का नाश कर देना ही गुरु शब्द का अर्थ है। 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार ही जगत में उन पूजनीय विभूतियों को गुरु या सद्गुरु के नाम से सम्बोधित किया जाता है, जिनके वचनों से, आचरणों और इंगितों से अर्थात् इशारे से मनुष्य अज्ञान, अन्धकार की परिधि से निकलकर ज्ञान के उस ज्योतिष्मान आँगन में आ पहुँचता है जहाँ से उसे अपने जीवन लक्ष्य की उपलब्धि का मार्ग स्पष्ट-रूपेण न केवल दिखाई देने लगता है, अपितु वह उसे पा लेने में भी समर्थ हो जाता है।

सृष्टि के रचयिता परम ब्रह्म परमात्मा को आदि गुरु कहा गया है। योग-दर्शन में वह (ईश्वर) पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकों का भी उपदेष्टा या गुरु है तथा वह काल से परिच्छिन्न नहीं है, अर्थात् वह गुरु ऐसा नहीं है जो किसी काल में हो और किसी काल में नहीं हो। वह सदैव से है और सदैव रहेगा। अतः इस आदि गुरु-सत्ता को हमें कभी विस्मरण नहीं करना चाहिए। यह गुरु सत्ता सर्वव्यापी होने से हम सबके हृदय में आत्मा-रूप से मौजूद है। अतः हमें क्षण-क्षण उसका ध्यान, जप, स्मरण आदि इसलिए करते रहना चाहिए कि वह हमारा सबका सच्चा पथ-प्रदर्शक है।

इस आदि गुरु प्रभु-सत्ता की ओर बढ़ते-चलने की उसके अनिर्वचनीय आनन्द सागर में डूब जाने की प्रेरणा जो आचार्य, ऋषि, महर्षि हमें अपने वचनों और आचरणों द्वारा देते रहते हैं वे सभी हमारी सद्गुरु शृंखला में आते हैं। भगवान व्यासदेव जी ने भी उन आदिगुरु प्रभु की अगाध ज्ञानराशि को अपनी लेखनी की अपरिमित शक्ति से विविध ग्रन्थों के रूप में सर्वसाधारण के लिए बोधगम्य बनाने का जो सद्प्रयास किया, उसके लिए समग्र मानव-पीढ़ी उनकी ऋणी रहेगी। इसी-लिए भगवान व्यासदेवजी को श्रद्धा से स्मरण करने के लिए, उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन के लिए हमारे मनीषी पूर्वजनों ने गुरुपूर्णिमा को 'व्यास पूर्णिमा' के नाम से भी प्रसिद्ध कर दिया। भगवान पतंजलि देव के योग सूत्रों पर भी व्यासजी ने अपनी व्याख्या करके उन्हें और अधिक सुलभ तथा सुबोध बनाने का सद्प्रयास किया है।

गुरु पूर्णिमा का पावन ज्योतिर्मय पर्व ऐसे ही सब विश्वविश्रुत ऋषियों, मनीषियों और

सद्गुरुओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का पर्व है जो सुसंकृत समाज में सर्वत्र अतीव आदर और श्रद्धा के साथ मनाया जाता है। आचार्य और सद्गुरुओं को संसार अपना आदर्श मान-कर उनकी पूजा करता है, उन्हें युगावतार मानता है, उनके जीवन को उज्ज्वलतम् बनाने का श्रेय भी उनके सद्गुरुओं को ही है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन का एवं लौकिक जीवन का निर्माण बिना सद्गुरु कृपा, उनके मार्ग दर्शन के बिना हो ही नहीं सकता। वेद ने मनुष्य मात्र को पुकार कर कहा है—

आचार्यवान् भव

अर्थात् हे मनुष्य ! तू आचार्यवान् बन। आचार्य और सद्गुरु का कार्य ही यह है कि वह अपने अनुयायियों को सदाचरण की शिक्षा-दीक्षा देकर जप, तप, ध्यान की साधना कराके उन्हें स्वर्ग और अपवर्ग दोनों की प्राप्ति करादे। योग-मार्ग के अनुयायियों को तो सुयोग्य साधन-सिद्ध अनुभवी योगाचार्यों और सद्सिद्ध गुरुओं के सानिध्य में जाना अत्यन्त ही आवश्यक है क्योंकि सद्गुरुओं का मार्गदर्शन ही उन्हें लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ होता है। इसीलिए गुरु-पूजन की और गुरु की शरण में आने की अपनी महत्ता है। गुरु पूर्णिमा का पर्व सद्-गुरु पूजन की परम्परा को कायम रखने के लिए ही प्रतिवर्ष मनाया जाता है। गुरु पूजन की यह पावन परम्परा—परिपाटी सदा ही कायम रही है और आगे भी रहेगी। यही आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है।

सद्गुरु दर्शन ही ज्ञान की पूर्णिमा है। अमावस्या और प्रतिपदा के दिन चन्द्रके दर्शन पृथ्वी के प्राणियों को नहीं होते। द्वितीया के दिन उसकी अत्यन्त क्षीण कला दिखाई देती है। चन्द्रमा का स्वल्पांश प्रकाशमय, परन्तु अधिकांश अन्धकाराच्छादित रहता है। द्वितीया के बाद चतुर्दशी तक शनैः शनैः प्रकाश का भाग बढ़ता जाता है और अन्ध-कार का भाग घटता जाता है। पूर्णिमा के दिन चन्द्र का सम्पूर्ण बिम्ब प्रकाश से ओत-प्रोत हो उठता है और अन्धकार का लवलेश भी उसके अन्दर नहीं रहता। उस दिन चन्द्रमा को देखकर समुद्र का हृदय बल्लियों उछलने लगता है, चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है औषधियों के अङ्ग-अङ्ग रससिक्त हो जाते हैं। और निखिल प्राणी-जगत अपार आह्लाद का अनुभव करता है।

पूर्णिमा का नाम पूर्णिमा चन्द्र की समस्त कलाओं के परिपूर्ण विकासके कारण ही पड़ा है। इस दिन चन्द्रमा अन्धकार से एकान्त विमुक्त और प्रकाश से एकान्त संयुक्त होता है। इस दिन इसकी दुग्धधवल, आनन्दमयी तथा अमृत-स्यन्दिनी छटा देखते ही बनती है, गुरु-पूजा का दिन हमने पूर्णिमा का ही क्यों चुना है उसके लिए। क्योंकि हम सब का जीवन दिन की तरह नहीं है। अमावस्या की अँधेरी रात की तरह है। हम हैं रात अँधेरी। और गुरु जब हमारे जीवन में आ जाता है तो लगता है जैसे पूर्णिमा ही आ गयी, जैसे पूनम का चाँद उतर आया।

क्या हमारे जीवन भी कभी ऐसी ही प्रकाशमयी पूर्णिमा होगी। हमारे जीवन की पूर्णिमा कब होगी ? हमारा जीवन अन्धकार से शून्य तथा प्रकाश से परिपूर्ण कब होगा ? जीवन में अन्धकार का भाग अविवेक और अज्ञान की अवस्था है। जैसे-जैसे ज्ञानार्जन द्वारा अविवेक का अंश कम हो जाता है, वैसे ही वैसे जीवन प्रकाशित होता जाता है। चन्द्रमा की सोलह कलाएँ होती हैं, पूर्णिमा के दिन चन्द्र अपनी पूर्ण कलाओं से प्रकाशित

होता है। वह परमात्मा पूर्ण है। ॐ पूर्णमिदं और उसका अंश जीवात्मा भी पूर्ण है। जीवात्मा तथा परमात्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति पूर्ण ज्ञान प्रकाश ही अखण्ड आनन्द ही गुरु-पूर्णिमा है। मानव विशुद्ध बुद्धि के प्रकाश में सत् को सत् और असत् को असत् रूप में प्रत्यक्ष देखता है। जो इस अवस्था को प्राप्त हो गया है वही गुरु है उसके जीवन की पूर्णिमा उसके अन्दर तो खिल ही उठती है, और अपने चतुर्दिक भी ज्ञानलोक की किरणें विकीर्ण करने लगती है।

गुरु-पूर्णिमा का उत्सव महोत्सव है वह दिन बड़ा ही महिमावान है, गौरवपूर्ण है। वैसे तो हर पूर्णिमा को चाँद अपने पूर्ण यौवन पर निकलता है लेकिन आज उसमें विलक्षणता रहती है। प्रत्येक पूर्णिमा को चाँद के निमन्त्रण पर सागर में उछल-कूद रहती ही है लेकिन इस विशिष्ट पूर्णिमा को तो मानो सागर उछलकर चाँद का आलिंगन कर ही लेना चाहता है, वैसे तो सद्‌गुरु देव चन्द्र सदा ही अपनी मन मोहक मस्ती और आनन्द तथा ज्ञान योग की चाँदनी बिखेरते रहते हैं, लेकिन गुरुदेव गुरु-पूर्णिमा के दिन तो सद्‌गुरु रूपी चाँद, आनन्द, आह्लाद, मस्ती में पूरे यौवन में इठलाता है लुटाता है अपनी उन्मुक्त प्रेम की चाँदनी चाहता है आज सभी के अज्ञान तिमिर को पीकर ज्ञान के आलोक का प्रकाश सबके अन्तस में भर दूँ। सद्‌गुरु शिव रूप है, इसीलिए तो वह स्वयं जहर पीकर अमृत बाँटना चाहते हैं। यह दिन वह दिन है जिस दिन ज्ञानामृत बाँटा जाता है। पूर्णिमा के दिन चाँद भी अमृत बरसाता है। इस अलौकिक दिन पर सद्‌गुरु रूपी चाँद की कोशिश से भक्तों के मन रूपी मानसरोवर में भी अजीब हलचल पैदा होती है उनका मन भी आपे से बाहर होकर मचल उठता है, शिष्य का हृदय कमल आनन्द से खिल उठता है, मन सीमाओं को तोड़ने को उद्यत हो जाता है, वह चाहता है—चाँद को उमड़कर आलिंगन कर लूँ या उसमें समाहित हो जाऊँ। शिष्यों का मन मयूर आनन्द मगन होकर नाचता है और गाता है अपने गुरुदेव की धन्यता के गीत।

गुरु-पूर्णिमा ज्ञान के प्रकाश का दिन है सद्‌गुरु पूर्ण चन्द्रमा का प्रकाश है और उनके शिष्य तारागण मण्डल हैं जो चाँद के ही प्रकाश से प्रकाशित हैं। चाँद तारागण मंडल के बीच सुशोभित है। सद्‌गुरु के प्रकाश से श्रेष्ठ-तर आत्मप्रकाश है और सबसे श्रेष्ठ परमात्म प्रकाश है। आत्मा तथा परमात्मा के ज्ञान के आनन्द को पा लेना ही मानव के जीवन की पूर्णिमा है। आनन्दात्मक दामिनी, अमृत स्पन्दिनी, पूर्ण ज्ञानालोक की यही अवस्था है जिसमें तारे नहीं एक आत्मचन्द्र ही चमकता है। विविध गुणों की विविध ज्ञान की टिमटिमाती ज्योति नहीं, आनन्द अनन्त आलोक जगमगाता है, इन्द्रियाँ देह का वैभव विलास नहीं, एक ज्ञान प्रकाश ही दिखाई देता है। पुरुष सूक्त में कहा है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमा-
दित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

अर्थात्—यह आत्म-पुरुष जो सूर्य के समान प्रकाश वाला, महान स्वयं ज्योतिस्वरूप है और उस गाढ़ अन्धकार से परे है, उसे जानकर ही मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण

करता है। परमपद प्राप्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

मोह द्वारा माया ही जीव को मोहित करती है। जीव के आत्म-प्रकाश का आवरण उसका मोह ही है। जीव मोहावरण के कारण ही अपनी आत्मा को नहीं देख पाता। मोहन जिसे मोह नहीं होता सद्गुरु कृपा से जिसका मोह भंग हो जाता है तभी वह पूर्ण चन्द्र परमतत्व प्रकाशित होता है। उस परमतत्व का प्रकाशित होना ही मानव जीवन की पूर्णिमा है। आत्मसूर्य को प्रकाशित करने वाले गुरुदेव को नमस्कार है।

चन्द्रमा प्रतीक है बहुत-सी चीजों का। पुरुष सूक्त में कहा गया है "चन्द्रमामनसो-जातः" चन्द्रमा का उदय मन से हुआ है। शास्त्रों में कहा गया है कि चन्द्रमा का प्रादुर्भाव परम पुरुष परमात्मा के मन के [illegible] हुआ है और सूर्य परमात्मा का प्रकट स्वरूप है। जब अन्तरिक्ष में सूर्य व चन्द्रमा के मध्य कोई बाधा नहीं रहती तब चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश को पूर्णरूपेण ग्रहण कर प्रतिबिम्बित करता है। उसी प्रकार जब मन से अज्ञान से पैदा हुआ मोह का आवरण हट जाता है और जब मन शुद्ध निर्मल व पारदर्शी हो जाता है तब वह आत्मा के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है। ऐसे ही जिनके अज्ञान का परदा पूर्णरूप से हट गया हो, वे ही आत्म-सूर्य के पूर्ण प्रकाश को प्रकाशित करते हैं, वे ही पूर्ण गुरु होते हैं। जिनका मन अमन हो गया हो, जिनका मन माया मोह से हटकर, जिनके मन में मोह न हो, मोह के हटकर आत्मा में विलीन होकर तद्रूप बन गया है। गुरुपूर्णिमा के दिन भी गुरुदेव द्वारा परमेश्वर का अनुग्रह मूसल धार बरसता है और असंख्य व्यक्ति उसमें स्नान करके धन्य हो जाते हैं।

आषाढ़ पूर्णिमा वर्षा ऋतु की प्रथम पूर्णिमा होती है। जिस प्रकार तेज वर्षा की फुहारें सूखी झुलसी हुई भूमि को नया जीवन देती है उसी प्रकार गुरु की कृपा मुमुक्षु को नया जीवन देती है, आध्यात्मिक अनुभूतियों से युक्त एक नया जन्म। गुरु नानक देव कहते हैं—

जिउ प्राणी जल बिनु है मरता,
तिउ सिष गुरु बिन मरि जाई।
जिउ धरती सोभ करे जलु बरसै,
तिउ सिष गुरु मिलि बिगसाई।।

अर्थात् जैसे पानी न मिलने से प्राणी मर जाते हैं वैसे ही गुरु न मिलने से शिष्य की आध्यात्मिक मृत्यु हो जाती है। जैसे वर्षा से धरती सुशोभित हो जाती है, पेड़, पौधे, फूल-फल से हरे-भरे हो जाते हैं, वैसे ही एक शिष्य को सद्गुरु मिल जाए तो उसका सम्पूर्ण जीवन विकसित होने लगता है।

चन्द्रमा अनूठा है कई बातों में। एक तो वह रात में रोशनी देता है और अंधेरी रात को तुम्हें चाँद चाहिए सूरज नहीं। और चाँद की दूसरी खूबी यह है कि चाँद में रोशनी। चाँद की रोशनी अपनी नहीं होती, सूरज की होती है। चाँद दिन भर सूरज की रोशनी को पीता है, और फिर रात भर सूरज से ली हुई रोशनी को चाँद बिखेरता है। जैसे तुम एक दीपक जलाओ और उस दीपक के पास रखा हुआ दर्पण अपने में से दीपक की दी हुई रोशनी फेंके। दर्पण की कोई रोशनी नहीं होती, रोशनी तो दीपक की है सीधा सूरज की रोशनी को तुम झेल न पाओगे क्योंकि सूरज अग्नि पिण्ड है, वही सूरज की रोशनी चन्द्रमा के माध्यम से से शुभ्र और शीतल हो जाती है, जिससे

अमृत का झरण भी होता है। जहाँ सूरज आग है, मृत्यु है वहीं चन्द्रमा शीतल है, अमृत है। अभी परमात्मा से तुम्हारा सीधा मिलन नहीं हो सकता क्योंकि परमात्मा के प्रकाश को सीधा तुम अपने में जज्ब नहीं कर सकोगे; जल जाओगे, मिट जाओगे, अभी तो तुम्हें परमात्मा का बहुत सौम्य रूप चाहिए। शीतल प्रकाश चाहिए, जिसको तुम सहर्ष पचा सको। चन्द्रमा सौम्य है। सौम्य-रस अमृत रस उससे झरता है। रोशनी तो चन्द्रमा में सूरज की ही है। गुरु में जो प्रगट हो रहा है, वह तो सूरज ही है, परमब्रह्म परमात्मा ही है। मगर गुरु के माध्यम से वह ब्रह्म तेज जो प्रखर है, दाहक है, मारक है वह गुरु में आकर सौम्य हो जाता है, अमृत बन जाता है, शीतल बन जाता है। चन्द्रमा की यही कला है, कि वह उसका जादू है, कि सूरज की गरम रोशनी को पीकर उसे फिर शीतल कर देता है। सूरज को देखोगे तो गरम है, उसका रंग लाल अग्नि जैसा है, और चाँद को देखोगे, तो तुम शीतलता से भर जाओगे और रंग भी बदला हुआ, रूप भी, गुण भी बदला हुआ, शुभ्र प्रकाश, अमृतदायी।

गुरु भी ब्रह्म को सूर्य सदृश परमात्मा के तेज को पीकर ब्रह्म की उष्णता को पीकर उसे शीतल कर देता है। सूरज पौरुष है, पुरुष है। चन्द्रमा मधुर है, प्रसादपूर्ण है। परमात्मा परम पुरुष है, कठोर है, सूरज जैसा है उसको सीधा-सीधा पचाना आसान नहीं है। उसे पचाने के लिए सद्गुरु से गुजरना जरूरी है, सद्गुरु तुम्हें वही परमात्मा की रोशनी तेज, दे देता है, लेकिन उस ब्रह्म के तेज को शीतल करके, इस ढंग से कि तुम उसे पी सको। जैसे सागर (समुद्र) से सीधा-सीधा कोई पानी पिये तो मर जायेगा, पी नहीं सकता, खारी व विषाक्त है। हालांकि कुए, नदी में जो पानी है वह सब सागर का है। मगर सूरज से तप्त होकर भाप बनकर आकाश में जाकर फिर बरसता है फिर नदियों में आता है, पहाड़ों पर से गिरकर बहता है। पानी तो सब सागर का है गंगा में हो या यमुना में हो, नर्मदा में हो, कुए में हो, किसी पहाड़ के झरने में हो, है तो सागर का। लेकिन झरने में कोई राज है, नदी में, कुए के पानी में कोई राज है, जिसने उसी सागर के पानी को तुम्हारे पीने, पचाने के योग्य कर दिया है।

सद्गुरु की यही कला है। उसके माध्यम से परमात्मा सौम्य हो जाता है, मधुर हो जाता है, प्रीतिकर हो जाता है। वह परमात्मा गुरु के भीतर से तुम्हारे पास आता है, तो तुम फिर उसे पचा सकते हो। और एक बार पचाने की कला आ गई तो गुरु बीच से हट जाता है। गुरु तो था ही नहीं, सिर्फ यह तो रूपान्तरण की एक प्रक्रिया थी। जिस दिन तुमने पहचान लिया गुरु की अन्तरात्मा को, उस दिन तुमने पहचान लिया तुमने चाँद में, गुरु में, सूरज को देख लिया, परमात्मा को देख लिया। फिर रात मिट गई अन्धकार मिट गया। फिर दिन हो गया। इसलिए गुरु पूजा का दिन हमने पूर्णिमा को चुना, क्योंकि पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा अपनी पूरी १६ कलाओं में प्रकट होता है, यही पूर्ण विकास है चन्द्रमा का। ठीक इसी प्रकार परमात्मा का ब्रह्म होना पूर्ण विकास है गुरु का पुरुष का। सामान्य मनुष्य में ५ कलाओं का विकास पाया जाता है लेकिन गुरुदेव में पूर्ण १६ कलाओंका विकास हो जाताहै इसीलिए गुरुदेव को परब्रह्म की उपमा दी है।

गुरुपद मनुष्य जीवन का परब्रह्म, मनुष्य जीवन का चरम शिखर है। जो वहाँ तक बिना पहुँचे मर गया, वह यूँ ही जिया, यूँ ही मर गया। न जिया न मरा। व्यर्थ ही जिया, जीवन को व्यर्थहीन खो देना सौभाग्य की घड़ी है बड़े अहोभाग्य है उसके जिसको मनुष्य चोला मिला है। तुम्हारे जीवन में भी यह पूर्णिमा पूर्णता यह चरम शिखर, चरम लक्ष्य आ सकता है। हम सबके अन्दर पूरी-पूरी सम्भावना है, इस पूर्णत्व की लेकिन हम सब अधूरे ही जीवन जीकर मरते रहते हैं, जन्मते रहते हैं।

खोजो किसी सद्गुरु को और सौंपो यह अपना अधूरा अन्धकार और अज्ञान से भरा जीवन उसको। वह इसे मिटाकर तुम्हें नया जन्म देकर कृतार्थ और निहाल कर देगा। वह तुम्हें तुम्हारी असली पहचान करा देगा। वह तुम्हारे अन्दर छिपे ब्रह्म को प्रगट कर देगा। जिसे पाना तुम्हारा जन्म सिद्ध अधिकार है।

"गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः
गुरु देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म
तस्मै श्री गुरवे नमः॥

गुरुदेव की अर्चना, वन्दना का यह अद्वितीय श्लोक है। वैसे तो इस सूत्र की मूल धारा आदि अनादि जगत् गुरु परम ब्रह्म शिव से है। वही पूर्व गुरुओं के गुरु परम गुरु है, वही समस्त ज्ञान विज्ञान को प्रदान करने वाले हैं। उन्हीं की तीन धारा, एक ब्रह्मा, दूसरा विष्णु, तथा तीसरा महेश्वर है। शिव की एसी ब्रह्म की मूर्ति शिवलिंग तथा हंस के रूप में अर्ध नारीश्वर रूप वह एक ही दो हो गया, और उसी एक का त्रिमूर्ति रूप भी है। मुख एक ब्रह्म की तीन मुख शरीर एक। एक मुँह ब्रह्मा का, दूसरा मुँह विष्णु का तथा तीसरा मुँह, महेश्वर का है। और उसी एक ब्रह्म शिव की पञ्च मुख वाली भी मूर्ति मिलती है। वह एक ब्रह्म शिव उसके पांच मुख, पञ्चभूत का प्रतीक है। एक पृथ्वी, दो जल, तीसरा अग्नि, चौथा वायु, तथा पांचवाँ आकाश।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये एक ही ब्रह्म के तीन चेहरे हैं, ब्रह्म इन तीनों की पराकाष्ठा है। ब्रह्मा का अर्थ होता है, सर्जक, सृष्टा, विष्णु का अर्थ होता है—सम्हालने वाला, पोषक और महेश का अर्थ होता है—विध्वंसक। विनाश करने वाला। वह परब्रह्म एक शिव ही ब्रह्मा है, वही विष्णु है और वही महेश्वर है। इन तीनों को अलग-अलग जो जानते-मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। लेकिन प्रणव ओ३म् एक अक्षर के भीतर ब्रह्म के भीतर यह तीन नहीं एक ही है। वह परमब्रह्म ही, परम गुरु ब्रह्मा है, वही विष्णु है, और वही महेश्वर है। ब्रह्म परम पद है, और गुरु भी उस परम पद में प्रतिष्ठित है। इसीलिए, संसार में सबसे बड़ा पद, सबसे अधिक प्रतिष्ठा गुरु की है। चक्रवर्ती राजा की इन्द्र की पदवी भी उसके सामने तुच्छ है।

इस श्लोक को हम नित्य सभी गुरु भक्त अपनी प्रार्थना में गुरुमूर्ति, चित्र अथवा साक्षात् गुरुदेव के सामने खड़े होकर दुहराते हैं, और हजार बार दूसरों से सुनते भी हैं। इसलिए इसको इसके यथार्थ रूपमें समझने के लिए हमने कभी जोर नहीं दिया। समझना भी भूल गये हैं। यह भ्रान्ति होती है। जिस बात को हम नित्य सुबह शाम तोते की तरह दुहराते हैं, और रोज-रोज सुनते हैं, तो हमें लगता है, कि हम समझ गये—यही तो रोज

पढ़ा सुना है—तोता है बिना सोचे-समझे और यह श्लोक हम सबके कण्ठ पर है। तोतों से ज्यादा हमारे दुहराने में इसका अर्थ नहीं होता। भला बिचारा तोता क्या जानता है कि जो वह राम-राम की रट लगाता है उस का क्या अर्थ है? तोतों को तो जो सिखा दिया जाय, वही दुहराने लगते हैं, बिना जाने-माने। इस सूत्र को समझने के लिये तो प्रज्ञा चाहिए। श्रद्धा, प्रेम चाहिए।

ब्रह्मा का अर्थ है जो बनाये, विष्णु का अर्थ है जो सम्हाले, और महेश का अर्थ है जो मिटाये। धर्म जीने की, मरने की और पुनरुज्जीवित होने की कला है इसीलिए धर्म गुरु को हमने तीनों नाम दिये हैं—सद्गुरु वही है जो तीनों कलायें जानता हो। तुम तो उन गुरुओं को खोजते हो, जो तुम्हें मिटाये। जो तुम्हें सम्हारे। जो तुम पहले से ही कुछ बने हुए हो, और बने होते ही हैं सब कुछ। और पहले से ही, उसे जब तक मिटाया न जायेगा, तब तक तुम नया दूसरा कुछ नहीं बन सकते। बिना तुम्हें मिटाये तुम्हारे जीवन में वह निर्मित नहीं होगा जो गुरु तुम्हें बनाना चाहते हैं। तुम अपने को देह समझे हुए हो जन्म जन्मान्तरों से गुरु तुम्हारे इस भाव को मिटायेगा तभी तुमको वह ब्रह्म बना सकेगा। सद्गुरु वह नहीं जो तुम जैसे हो तुम्हें वैसा ही बना रहने दे, सद्गुरु तो वही है सच्चे अर्थों में, जो तुम्हें मारकर तुम्हारे देहभाव को मारकर, तुम्हें नया जन्म दे, ब्रह्मभाव को जन्म देवे। लेकिन तुम्हारा पुनर्जन्म तभी सम्भव है जब गुरु तुम्हें पहले मारे, मिटाये, तभी तुम वह बन सकोगे जो गुरु तुम्हें बनाना चाहता है। एक बहुत प्राचीन सूत्र है। "आचार्यो मृत्यु" वह जो धर्मगुरु है वह मृत्यु है। मृतवत् जीना मृत्यु को जानकर जीना, वही सद्गुरु की साधना है। हमने ये तीनों रूप सद्गुरु को दिये हैं। वह बनाता हमें, लेकिन मारकर, मिटाकर बनाता है। वह सम्हालता है, वह मिटा ही नहीं डालता, मार ही नहीं डालता वह सिर्फ हमें बनाकर ही नहीं छोड़ देता, वह सिर्फ सम्हालता ही नहीं रहता इसलिए सद्गुरु के पास हिम्मतवर लोग ही पहुँचते हैं जो मरने को, मिटने को राजी हों।

सद्गुरु तो मरना भी सिखाता है और जीना भी सिखाता है। और जीते जी मर जाना, यही ध्यान-समाधि है। सद्गुरु तुम्हें यही सिखाता है। और ये तीन घटनायें सद्गुरु के पास घट जायें, तो चौथी घटना तुम्हारे भीतर घटती है। इसलिए उस चौथे श्लोक में सद्गुरु के लिए स्मरण में कहा है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देवो महेश्वरः।

ये तीन चरण हुए फिर तुम्हारे भीतर परब्रह्म की अनुभूति 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति जो तुम्हारे भीतर होगी इन तीन चरणों से ही होगी। ये तीन प्रवेशद्वार हैं इनके द्वारों से ही भीतर गुजरकर, वह चौथी तुरीय, अवस्था गुरु साक्षात् परब्रह्म तब तुम जानोगे गुरु को उसकी पूर्णता में। जिसने तुम्हें नया जन्म दिया, फिर तुम्हें सम्हाला, मारा, पीटा, तोड़ा, सजाया—वह तो कोई व्यक्ति नहीं था। वह तो था ही नहीं, उसके भीतर परब्रह्म परमात्मा ही था। और जिस दिन तुम अपने गुरु के भीतर परब्रह्म परमात्मा को देख लोगे उस दिन तुम्हें अपने भीतर का भी परमात्मा दीख जायेगा। क्योंकि गुरु तो दर्पण की भाँति है, उसमें तुम्हें अपने वास्तविक स्वरूप की झलक दिखाई पड़ जाती है। तीन चरण हैं,

और चौथा मुकाम, मंजिल है और सद्गुरु के पास चारों चरण पूरे हो जाते हैं।

"तस्मै श्री गुरुवे नमः"

इसलिए उस ब्रह्मरूप गुरुदेव को नमस्कार है।

गुरु पूर्णिमा के दिन से ही परिव्राजक साधु, सन्यासी, योगी जन अपने भ्रमण को रोककर एक ही स्थान पर चार महीने चतुर्मास के लिए ठहर जाते हैं, वर्षा ऋतु में पूर्ण अन्तर्मुखी होकर परम तत्व आत्मा में रमण करते हैं, गुरु पूर्णिमा के दिन गुरुदीक्षा द्वारा प्राप्त सद्गुरु का एक ही शब्द उनका मन्त्र ही संकल्प-विकल्पों के ताने-बाने से बुने हुए अज्ञान रूपी जाल को चीरकर भेदकर हमें एकमात्र परमात्मा का बोध करता है। हमारे ब्रह्मलीन सद्गुरु चन्द्रमोहन जी सोलह कलाओं में पूर्णचन्द्र थे। 'ओ३म् इति शुभम्'

श्री गुरु पूर्णिमा

श्री ओमप्रकाश पालीवाल

योग प्रकाश का पूर्ण चन्द्र यह
गुरु-शक्ति की कृपा-किरण बन,
मोह तमोमय मन के द्वारे,
ज्ञान-ज्योति ले आया।
सोतों को जगाने आया॥

सोऽहम-सोऽहम नाद सुनाने,
स्निग्ध-हृदय में वास बसाने,
प्रभु रामलाल की जय-जय गाने,
चन्द्र धरा पर आया।
मोह-अज्ञान मिटाने आया॥

समष्टि चित्त का निर्मल दर्पण,
त्रय तापों पर करुणा-वर्षण,
अहंकार का करने तर्पण,
अमृत घट भर लाया।
उर-प्यास बुझाने आया॥

प्रभु रामलाल अमर अविनाशी,
अगम-अगोचर ब्रह्म निवासी,
सिद्धयोग का अमर दीप ले,
योगी योग ले आया।
ज्योति जगाने आया॥

सिद्धयोग का अभिनव नर्तन
ज्योति पुञ्ज का पावन दर्शन
काम क्रोध का करने मर्दन
स्नेह सलिल भर लाया।
योग-सुधा बरसाने आया॥

चन्द्रमोहन गुरुदेव की महिमा,
गुरु पूर्णिमा बन गयी उपमा,
कृतज्ञ हृदय का प्रनति समर्पण,
भाव सुमन हो आया।
गुरु ध्यान बताने आया॥

पत्रम्-पुष्पम्-फलम्-तोयम्

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥

पृथ्वी में जितने धान्य (चावल, जौ आदि), सुवर्ण, पशु और स्त्रियां हैं—वे सब मिलकर भी उस पुरुष के मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते, जो कामनाओं के प्रहार से जर्जर हो रहा है।

× × ×

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

विषयों के भोगने से भोगवासना कभी शान्त नहीं हो सकती। बल्कि जैसे घी की आहुति डालने पर आग और भड़क उठती है, वैसे ही भोगवासनाएं भी भोगों से प्रबल हो जाती हैं।

× × ×

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेष्वमङ्गलम् ।
समदृष्टेस्सदा पुंसः सर्वाः सुखमया दिशः ॥

जब मनुष्य किसी भी प्राणी और किसी भी वस्तु के साथ राग-द्वेष का भाव नहीं रखता, तब वह समदर्शी हो जाता है तथा उसके लिए सभी दिशाएं सुखमयी बन जाती हैं।

× × ×

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्जीर्यतो या न जीर्यते ।
तां तृष्णां दुःखनिवहां शर्मकामो द्रुतं त्यजेत् ॥

विषयों की तृष्णा ही दुःखों का उद्गम स्थान है। मन्दबुद्धि लोग बड़ी कठिनाई से उसका त्याग कर सकते हैं। शरीर बूढ़ा हो जाता है पर तृष्णा नित्य नवीन ही होती जाती है। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, उसे शीघ्र-से-शीघ्र इस तृष्णा (भोग-वासना) का त्याग कर देना चाहिए।

× × ×

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नाविविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

और तो क्या—अपनी माँ बहिन और कन्या के साथ भी अकेले एक आसन पर सट-कर नहीं बैठना चाहिए। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि वे बड़े-बड़े विद्वानों को भी विचलित कर देती हैं।

× × ×

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत् ।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक् ॥

लोक-परलोक दोनों के ही भोग असत् हैं, ऐसा समझकर न तो उनका चिन्तन करना चाहिए और न भोग ही। समझना चाहिए कि उनके चिन्तन से ही जन्म मृत्यु रूप संसार की प्राप्ति होती है और उनके भोग से तो आत्मनाश ही हो जाता है। वास्तव में इनके रहस्य को जानकर इनसे अलग रहने वाला ही आत्मज्ञानी है।

× × ×

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥

मैं भगवान से आठों सिद्धियों से युक्त परम गति नहीं चाहता। और तो क्या, मैं मोक्ष की भी कामना नहीं करता। मैं चाहता हूँ तो केवल यही कि मैं सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित हो जाऊँ और उनका सारा दुःख मैं ही सहन करूँ, जिससे और किसी भी प्राणी को दुःख न हो।

× × ×

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो ।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः ॥

प्रभो! जैसे पर्वतों से सब ओर बहुत सी नदियाँ निकलती हैं और वर्षा के जल से भरकर घूमती-घामती समुद्र में प्रवेश कर जाती हैं, वैसे ही सभी प्रकार के उपासना-मार्ग घूम-घामकर देर-सबेर आपके ही पास पहुँच जाते हैं।

× × ×

सत्त्वं रजस्तम इति भवतः प्रकृतेर्गुणाः ।
तेषु हि प्राकृताः प्रोक्ता आब्रह्मस्थावरादयः ॥

प्रभो! आपकी प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रज और तम। ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण चराचर जीव प्राकृत हैं और जैसे वस्त्र सूतों से ओतप्रोत रहते हैं वैसे ही वे सब प्रकृति के इन गुणों से ओतप्रोत हैं।

● श्री द्वारिका प्रसाद शर्मा

योगक्षेमं वहाम्यहम्

श्रीमद्भागवत् गीता के नवें अध्याय का २२ वाँ श्लोक इस प्रकार है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां
ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां
योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति अनन्य भाव से मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना में रत रहते हैं, ऐसे निरन्तर अपने से जुड़े हुए व्यक्तियों के योग तथा क्षेम दोनों का निर्वहन मैं स्वयं करता हूं।

कितना उदार व उन्मुक्त आमन्त्रण है प्रभु की ओर से जीवमात्र को। प्रभु उद्घोष कर रहे हैं कि समस्त समर्पण भाव से मेरी ओर आने का मन तो बनाओ। जब तक हमारा मन ही स्थिर नहीं है, वह भ्रमित व चलायमान है, तब तक हमारा संशयालु मन शंकाओं से ग्रस्त होकर भयाक्रान्त ही रहेगा। योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में एक स्थल पर कहा भी है कि 'संशयात्मा विनश्यति'। संशय में पड़े रहने वाले व्यक्ति का विनाश ही हुआ करता है।

इसका प्रथम सोपान है श्रद्धा। श्रद्धावान ही ज्ञान लाभ किया करते हैं। गीता में अन्यत्र स्थलों पर निम्न सुन्दर उक्तियाँ इस बात की पुष्टि में सहायक हैं। एक जगह तो यह कहा है कि "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" तथा दूसरे स्थल पर "श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्"। इन उक्तियों का यदि हम थोड़ा सा भी विश्लेषण करने का प्रयास करें तो हमारा संशय दूर हो जायेगा। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' का भाव यह है कि ईश्वर की अंशभूत आत्मा, जो हम सबके अंदर विराजमान है वह श्रद्धा से पूर्ण है। बस हमें मात्र करना यह है कि उस श्रद्धा को जागृत कर उसे एक सुन्दर दिशा की ओर उन्मुक्त कर देना है। जहाँ श्रद्धा को अनुकूल वातावरण मिला, वहीं दिव्य भाव का संचार हो जाया करता है। इसके पश्चात् भगवद् वचन है कि 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्' इसका आशय यह है कि श्रद्धा से युक्त व्यक्ति ही ज्ञान का लाभ किया करता है।

ज्ञानवान व्यक्ति के लिए तो भगवान श्रीकृष्ण ने कितनी उदार वाणी में इन शब्दों का उच्चारण किया है कि 'ज्ञानवान मां प्रपद्यते' ज्ञानवान व्यक्ति मुझे ही प्राप्त हुआ करता है। एक अन्य स्थल पर भगवान वासुदेव अपने मुखारविन्द से यह कहते हैं कि मुझे चार प्रकार के व्यक्ति भजते हैं। वे चारों प्रकार के व्यक्ति सुकृति अर्थात् पुण्य कार्यों को ही करने वाले होते हैं। प्रथम प्रकार के व्यक्ति वे होते हैं, जो किसी अकस्मात विपत्ति के आने पर दुखी होकर अनन्य भाव से मेरे शरणागत हो जाया करते हैं। दूसरे प्रकार के व्यक्ति वे हैं जो 'जिज्ञासु' की कोटि में रखे जा

सकते हैं। किन्हीं पूर्व जन्मों के संस्कारवश उनके पुण्योदय होते हैं तब वे मेरी ओर उन्मुख होते हैं और तभी वे 'अथा तो ब्रह्म जिज्ञासा' के प्रथम ब्रह्मसूत्र के अध्येता बन प्रभुकृपान्वेषी होकर मात्र जिज्ञासु भाव से इस प्रशस्त अर्थ की ओर अग्रसर होते हैं।

तीसरे प्रकार के लोग 'अर्थार्थी' की कोटि में रखे गये हैं। ये वे बुद्धात्मा हैं जो प्रभु शरणापन्न हुआ करते हैं परन्तु उसमें उनका कुछ न कुछ प्रयोजन निहित हुआ करता है। चौथे प्रकार के सर्वोपरि बुद्धात्मा वे व्यक्ति हैं जो ज्ञानवान हैं तथा तात्विक रूपसे जिन्हें आत्मबोध हो गया है। इसलिये भगवान श्रीकृष्ण ने अपने मुखारविन्द से निम्न श्लोक के साथ-साथ अन्य श्लोकों को भी हमारे कल्याण के लिए गीता में सन्निहित कर दिया है।

चतुर्विधा भजन्ते मां
जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी
ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त
एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थ
महं स च मम प्रिय ॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी
त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः सहि युक्तात्मा
मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

बहूनां जन्मनामन्ते
ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स
महात्मा सुदुर्लभः ॥

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानी पुरुष के लिए भगवान ने स्वयं कहा है कि वह एकमति अर्थात् एकनिष्ठ होकर रहते हैं तथा उनका तात्विक विवेचन उन्हें सदैव एकरूपता की स्थिति में बनाये रखता है। जो ज्ञानवान होगा, वह भक्तिवान अवश्य ही होगा, इसमें निशमात्र सन्देह नहीं है। इसलिए ज्ञानवान की कोटि सर्वोपरि भगवान द्वारा रखी गयी है।

उपरिलिखित से यह निष्कर्षतः सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानी व्यक्ति में भक्ति की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध है। ऐसे हो पुण्यवान व्यक्ति ज्ञान व भक्ति दोनों के तारतम्य से यदि भगवत् चिन्तन के प्रति अनन्य भावसे सन्नद्ध रहते हैं तब तो यह सोने में सुहागे की उक्ति को चरितार्थ करने वाली बात हो जाती है। पहले तो अनन्य भाव हो उस पर तत्वतः ज्ञानवत्ता की स्थिति तथा उस पर भी योगयुक्त होकर भगवत् चिन्तन में ही निरत रहने वाले व्यक्ति की योगक्षेम और कौन वहन करेगा? वही तो वहन करेंगे जिनका निशदिन ऐसे व्यक्ति मनन, श्रवण एवं निदिध्यासन करते रहते हैं।

एक बात यहाँ उल्लेख कर देने योग्य यह है कि ऐसे सद्गुणी व्यक्ति में भी यहाँ अहंकार का भाव उदय हो जाता है तो उनके उल्लिखित गुण गौण रूप में विद्यमान रहते हैं तब अनन्यभाव न रहकर वह अन्य भाव हो जाया करता है जिससे उससे प्राप्त होने वाले योगक्षेम की स्थिति फिर संशयास्पद हो जायेगी। तो अहंकार की स्थिति से ज्ञानी व्यक्ति को सदैव बचना चाहिए। तथापि वे सर्वज्ञता की स्थिति को भी प्राप्त कर चुके हों उन्हें यही

विचार करना चाहिए कि वे तो निमित्तमात्र हैं। कर्त्ता, धर्त्ता तथा हर्त्ता तो उसके अतिरिक्त अन्य ही है जिसके ऊपर वे सदैव अनन्य भाव से आश्रित हैं।

व्यवहार जगत में भी हम प्रायः यह देखते रहते हैं कि जब एक शिशु जो पूर्णरूपेण अपनी जननी पर ही प्रत्येक कार्य के लिए आश्रित एवं अवलम्बित है, उसके हर कार्य, खान-पान, पहनना, ओढ़ना आदि की जिम्मेदारी उसकी माता की ही हो जाया करती है और दूसरे अर्थों में वह ही उसके योगक्षेम की संपूर्ण भाव से देखरेख किया करती है। जहाँ उस शिशु की शिशुता समाप्त हुई और बच्चे में यह भाव आया कि नहीं अब तो मैं दूसरे-दूसरों का सहारा लेकर या अपने से ही सब काम कर सकता हूँ तब क्या माता उसकी जिम्मेदारी को ओढ़ती है। कदापि नहीं। इसी प्रकार भगवदीय पक्ष में भी इस सिद्धान्त की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि योग तथा क्षेम दोनों भिन्न-भिन्न अर्थ को धारण करते हैं। जो हमें प्राप्त है उसका परिरक्षण भगवान स्वयं करते हैं तथा जो प्राप्तव्य है अथवा जो भावी जीवन के लिये कल्याणमय है, उसका दायित्व भी भगवान स्वयं वहन करते हैं। कितना बड़ा उपकार परम कृपालु प्रभु करने को तत्पर हैं परन्तु एक हम हैं जिन्हें सांसारिक अवलम्बों को ही सर्वस्व माने बैठे हैं और सदैव चिन्तातुर एवं भयातुर रहते हैं।

हम दूर क्यों जाँय ? हमारे आराध्य गुरुदेव श्री चन्द्रमोहन जी महाराज स्वयं इसके अनुपम उदाहरण हैं। यद्यपि वे इतने अधिक सामर्थ्यवान तथा सिद्ध थे कि स्वयं ही सब कार्यों का निस्तारण सहज रूप में कर दिया करते थे परन्तु कभी भी अपने ऊपर इसका श्रेय नहीं लिया। वे निरहंकार एवं निर्लिप्त भाव से अपने इष्ट एवं प्रातः स्मरणीय प्रभु श्री रामलाल जी का सदा सर्वदा चिन्तन किया करते थे और यही कहा करते थे कि करण कारणहार तो प्रभुजी ही हैं, मैं तो कुछ भी नहीं। वे विनोद में प्रायः कहा करते थे कि जैसे हलवे में चम्मच हुआ करता है वही मेरी स्थिति है। हलवा तो प्रभु जी स्वयं हैं। ये थी उनके अनन्य भाव की पराकाष्ठा।

मेरे विचार में यदि हम भी सर्वतोभावेन अपने ही इष्ट एवं आराध्य गुरुदेव के प्रति समर्पित भाव से अनन्य भक्ति युक्त रहकर उनका चिन्तन करते हैं तो क्या वे हमारी योग और क्षेम का वहन नहीं करेंगे, अवश्यमेव करेंगे, यही हमारी अटूट श्रद्धा एवं आस्था है। इसे ही सदैव श्री गुरुदेव बनाये रखें, यही हमारी हार्दिक कामना है।

कर न निन्दा तू किसी की, यह न मानव धर्म है।
और के अवगुण निरखना, यह महा दुष्कर्म है॥

× × ×

कर भले से भले से भाव लेकर, तू भलाई लोक की।
दे हटा, आई घटा हो, यदि किसी पर शोक की॥ —दिव्य

● डॉ० विजय सिंह

महाभारत में शक्तिपातोपाख्यान

(२)

आधुनिक काल में विज्ञान के अद्‌भुत कौशल जिस प्रकार से मनुष्य के मन को तथा व्यवहार को समाये हुये है, ठीक इसी तरह अतीत में योग-विज्ञान अवश्य ही समाज की सम्पूर्ण क्रियाओं में व्याप्त रहा होगा। नाथ—सम्प्रदाय से सम्बन्धित साहित्य के अनुशीलन से उपरोक्त तथ्य अत्यधिक पुष्ट होता है। महाराज भर्तृहरी का आखेट में हरिण का वध करना। श्री गोरक्षनाथ के द्वारा पिंगला के विछोह पर सहस्र सजीव पिंगलाओं का प्रादुर्भाव करना। हजारों-हजारों व्यक्तियों को योगबल से भोज्य पदार्थ करा देना। रोग-शोक संतप्त परिवारों को अपनी अमोघ कृपा से मुक्त करना। समाज को धर्म मर्यादा में बाँधे रखने हेतु प्रत्यक्ष आत्मिक-बोध का दान-शक्तिपात करना, चौरासी सिद्धों की दैनिकचर्या में दिखाई पड़ता है। तब फिर पौराणिक युग में, जब धरा सिद्धों, ऋषियों, महर्षियों, तपस्वियों के बाहुल्य से पुनीत थी, उस समय जीवोद्धार का कार्य शक्तिपात द्वारा होता रहा हो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं दीखती। यह बात अलग है कि शक्तिपात के लिए तब भी पात्रता का वही अर्थ था जो आज है। पात्र में ही शक्तिपात फलित होता है। संयम का व्यक्ति में होना पात्रता की परिभाषा है। शक्तिपात हो जाने पर, निष्ठावान साधक में स्वयमेव ज्ञान-विज्ञान का उदय होता चला जाता है। शक्तिपात से अन्तःकरण परिमार्जित होता है, आत्मबल की जागृति शनैः-शनैः होती ही जाती है। एक ऐसी ही कथा महाभारत के आदि पर्व में वर्णित है जिसमें एक भिन्न प्रक्रिया द्वारा गुरुदेव शिष्य को आत्मबोध कराते हैं। यह पात्र था आरुणी जो तत्क्षण आत्मोत्सर्ग के लिए प्रस्तुत नहीं होता है। परन्तु उसके मन पर कायिक प्रभाव विद्यमान था। अतः इस कथा के मार्मिक भाव को अनुभव करें।

महर्षि आयोदधौम्य व उपमन्यु—

"बिभुक्षति किं न करोति पाप"

भूख की पीड़ा को महामनुष्वी जन ही सहन करने में समर्थ होते हैं। राजा रन्तिदेव की पुण्यकथा का भी सार यही है। महीनों बाद प्राप्त अपर्याप्त भोज्य पदार्थ को वे परिवार में समान रूप में बाँटकर ग्रहण करने को उद्यत हैं। तभी क्रम से ब्राह्मण, भिखारी, चाण्डाल रूप में आकर भिक्षा की याचना करते हैं। इन्द्रियजयी राजा ने उस भोज्य को उन्हें देकर तितीक्षा में सफल होते हैं। सामान्य जन भूख की पीड़ा को सह ही नहीं सकते। अंग्रेजों के शासन काल में बंगाल में जो दुर्भिक्ष पड़ा था। दाने-दाने को लोग तरस गये थे, उस अकाल का विवरण

साहित्य में वर्णित है। मानवता भूख की सभी सीमाओं को पार कर अधःपतित हो चुकी थी।

गुरुदेव के आश्रम में उपमन्यु एक ऐसा पात्र है, जो सर्वगुण सम्पन्न है। परन्तु भूख की पीड़ा पर उसका वश नहीं है। एक दिन गुरुदेव ने उपमन्यु से कहा—वत्स, तुम गौओं की रक्षा करो। उपमन्यु आज्ञा पालन करता हुआ दिन भर गौओं की रक्षा में रहकर संध्या के समय गुरु जी के घर पर आता और उनके समक्ष जाकर साष्टांग प्रणाम करता। गुरुदेव ने देखा उपमन्यु खूब मोटा-ताजा होता जा रहा है। उन्होंने पूछा—बेटा उपमन्यु, तुम कैसे जीविका चलाते हो? उपमन्यु ने कहा—प्रभो! मैं भिक्षा से जीवन निर्वाह करता हूँ। गुरुदेव ने कहा—मुझे अर्पण किये बिना भिक्षा का अन्न तुम्हें ग्रहण नहीं करना चाहिए। उपमन्यु ने 'बहुत अच्छा' कहकर आज्ञा स्वीकार कर ली। भविष्य में वह भिक्षा लाकर गुरु चरणों में अर्पित करने लगा। गुरुदेव सारी भिक्षा ले लेते थे। उपमन्यु पुनः पूर्ववत गौ रक्षण करता रहा। वह संध्या को सद्गुरु चरणों में आकर नमन करता। गुरुदेव ने पूछा—वत्स उपमन्यु! तुम्हारी सारी भिक्षा तो मैं ले लेता हूँ, फिर वत्स, बताओ तो तुम कैसे अब जीवन-निर्वाह करते हो?

उपमन्यु ने विनम्रता पूर्वक कहा—प्रभो! पहले लाई भिक्षा आपको अर्पित कर अपने लिए दूसरी भिक्षा ले आता हूँ।

गुरुदेव ने कहा—परन्तु वत्स यह न्याययुक्त एवं श्रेष्ठ कर्म नहीं है। अतः तुम लोभी हो।

इत्येवं वर्तमानो लुब्धोऽसीत।

ऐसा भविष्य में मत करना। उपमन्यु सिर नवाकर गुरु की आज्ञा स्वीकार कर चल पड़ा। पहले की तरह गौ-चारण करता रहा। कुछ दिनों बाद पुनः महात्मा ने उपमन्यु को हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा—वत्स! अब तुम कैसे जीविका चलाते हो? उपमन्यु ने विनम्रता पूर्वक कहा—भगवन। मैं इन गौओं के दूध से जीवन निर्वाह करता हूँ। गुरुदेव ने कृत्रिम रोष से कहा—मैंने तुम्हें, दूध पीने की आज्ञा नहीं दी है, अतः यह कार्य सर्वथा अनुचित है। उपमन्यु ने 'बहुत अच्छा' कहकर दूध न पीने की भी प्रतिज्ञा कर ली और पूर्ववत् गोपालन करता रहा। तत्पश्चात गुरुदेवने देखा अब भी उपमन्यु शिथिल गात नहीं है। उसे उसी प्रकार हृष्ट-पुष्ट देखकर पूछा—बेटा उपमन्यु! अब तुम कैसे निर्वाह करते हो?

उपमन्यु ने सत्य सत्य कहा—प्रभो! ये बछड़े अपनी माताओं के स्तनों का दूध पीते समय जो फेन उगल देते हैं, मैं उसे ही चाट लेता हूँ। यह सुनकर गुरुदेव ने कहा—ये बछड़े उत्तम गुणों से युक्त हैं। ये अवश्य तुम पर दया कर अपने आधे पेट पय-पान कर तुम्हारे लिए अधिकाधिक फेन उगल देते हैं, अतः आज से तुम फेन भी न पिया करो। उपमन्यु ने आज्ञा को स्वीकार किया और पूर्ववत गौ-पालन में लग गया।

अब वह भूखा रहकर भी तत्परता से गौ सेवा में लगा रहता। परन्तु एक दिन वन में भूख से पीड़ित होकर उसने आक के पत्ते चबा लिये।

"स कदाचिद्रण्ये क्षुधार्तोऽर्कपत्राण्य भक्षयत्।"

परिणामस्वरूप वह अन्धा हो गया। अंधा होने पर वह इधर-उधर घूमता हुआ कुयें में गिर पड़ा। उपमन्यु संध्या हो जाने पर घर न लौट पाया। गुरुदेव अन्य शिष्यों से बोले—

उपमन्यु क्यों नहीं आया ? वह तो गाय चराने चला गया था। ऐसा कहकर शिष्यों के साथ वन की ओर चले। उसे खोजते हुए आवाज दी बेटा उपमन्यु कहाँ हो चले आओ। गुरुदेव की आवाज सुनकर उपमन्यु जोर से चिल्लाया गुरुजी, मैं कुये में गिर गया हूँ। आक के पत्ते खाकर अन्धा हो गया हूँ।

गुरुदेव ने कहा—बेटा उपमन्यु ! तुम दोनों अश्विनी कुमारों की स्तुति करो। वे तुम्हारी आँखें ठीक कर देंगे। उपमन्यु ने गुरुदेव के आदेशानुसार ऋग्वेद के मन्त्रों द्वारा स्तवन किया। दोनों अश्विनी कुमार वहां प्रकट हो गये और बोले—उपमन्यु हम तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं। यह तुम्हारे खाने के लिये पुआ है। इसे खा लो। उपमन्यु भावविभोर होकर बोला "भगवन ! आपने ठीक कहा है, तथापि मैं गुरुजी को निवेदन किये बिना इस पुआ को उपयोग में नहीं ला सकता।

स एवमुक्तः प्रत्युवाच
नानृतमूचतुर्भगवन्तौ न
त्वहमेतमपूपमुपयोक्तुमुत्स
हे गुरवेऽनिवेद्येति ।।

अश्विनी कुमारों ने अन्धे उपमन्यु को बार-बार उस दिव्य पुए को खाने का प्रलोभन दिया। परन्तु गुरुभक्त उपमन्यु अपने दृढ़ निश्चय पर अडिग रहा। तब अश्विनी कुमार अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले तुम्हारी आँखें अभी ठीक हो जायेंगी, तुम कल्याण के भागी भी होगे। नेत्र ज्योति प्राप्त कर उपमन्यु ने कुए से निकलकर सद्गुरु चरणों में प्रणाम किया। और अश्विनी कुमार से प्राप्त वरदान की कथा कह सुनाई। परम प्रसन्न होकर सद्गुरुदेव भगवान ने कहा—

आह चैनं यथाश्विनावाह
तथा त्वं श्रेयोऽवाप्स्यसि ।
सर्वे च वेदाः प्रतिभास्यन्ति
सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति ।।

जैसा अश्विनी कुमारों ने कहा है उसी प्रकार तुम कल्याण के भागी बनोगे। तुम्हारी बुद्धि में सम्पूर्ण वेद व शास्त्र स्वतः स्फुरित हो जायेंगे।

महात्मा उपमन्यु की इस चरित्र-कथा में दो एक विचारणीय बात दिखाई देती है। साधक के कुछ कमजोरियों पर सद्गुरु अपनी विलक्षण दृष्टि रखकर उस अनागवर्ती शिष्य का कल्याण सहज ही कर दिया करते हैं। महात्मा कबीर ने इसी बात को दृष्टिगत रख कर कहा है—

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है,
गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट ।
अन्तर हाथ सम्हारि के,
बाहर बाहै चोट ।।

महात्मा उपमन्यु भूख को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे, परन्तु उनकी गुरुनिष्ठा निर्दोष थी। क्षुधा तृप्ति के जितने भी उपाय उनकी समझ में आये वे उन साधनों को अपनी जीविका के लिए साधन बनाया। गुरुदेव उन-उन साधनों को वर्जित करते गये। प्रसन्न वदन उपमन्यु उनकी आज्ञा को पालन करने का प्राणप्रण से चेष्टा करते रहे। अंततोगत्वा वे सद्गुरु की प्रसन्नता के भाजन बने। श्री गुरुगीता में कथित—

गुरुवक्त्रे स्थिता विद्या
गुरुभक्त्या च लभ्यते,
त्रैलोक्ये स्फुटं वक्तारो
देवासुर पन्नगाः ।

अर्थात् गुरु के मुख में स्थित विद्या, गुरु की भक्ति से प्राप्त होती है। तीनों लोकों में गुरु के सिवाय देवादि, असुर, पन्नग वक्ता नहीं हो सकते।

महर्षि आयोद धौम्य के शिष्य, आरुणी तथा उपमन्यु दोनों के अन्तःकरणों एवं संस्कारों की विभिन्नता के कारण कल्याण-प्राप्ति में आये साधन विभिन्नताओं के साथ हमें यह यथार्थ निर्देश इस कथा से मिलता है कि—

गुरौ संतोषिते सर्वे,
मुक्तास्ते नात्र संशयः ।
भुक्ति मुक्त्युदयस्तेषां,
करास्थे वर्तते सदा ।।

अर्थात् वे सब साधक गुरु को संतुष्ट करने से ही ही मुक्त हुए हैं। इसमें संशय नहीं है। भोग, मोक्ष और ऐश्वर्य सदा उनके हाथ में हैं।

देह, इन्द्रियां, मन और बुद्धि

ब्रह्मविद्या का अध्ययन करते समय यह जान लेना अत्यावश्यक है कि कि देह, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि का परस्पर सम्बन्ध क्या है और इसका आत्मा से क्या सम्बन्ध है। साधकों के लिए यह विशेष उपयोगी है।

पहले देह का विचार करें। देह का वर्णन 'ब्रह्मसदन', 'देवयजन' और 'क्षेत्र' कहकर किया जाता है।

ब्रह्मसदन का अर्थ है यह देव का यानी ब्रह्म का घर है। ब्रह्म यानी आत्मा इस देह में रहता है। देवयजन का अर्थ है, यह देव का अर्थात् आत्मा का यजन (पूजन) करने का साधन है। इसलिए कहा है। "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"—'शरीर आध्यात्मिक उन्नति का आद्य साधन है।'

"शरीर आत्मा का कार्यक्षेत्र होने के कारण 'क्षेत्र कहा जाता है। खेत के समान कर्मफल-निष्पत्ति का हेतु होने के कारण भी क्षेत्र कहलाता है।"

मनुष्य अपने को 'मैं' कहता है। इसका कारण यह है कि वह उसके शरीर में रहने वाला आत्मा है। आत्म रूपी चैतन्य शरीर में न हो तो वह 'मैं' कह नहीं सकेगा। इसलिए 'मैं' का अर्थ है 'आत्मा'। परन्तु बहुसंख्यक लोग इस आत्मा को जानते नहीं वे अज्ञानवश 'देह' को ही आत्मा मानते हैं। इससे उनके जीवन को समुचित दिशा न मिलने के कारण उस शरीर को वे सार्थक नहीं कर सकते।

—श्रुतिसार

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास

अक्टूबर का महीना था। अंधेरी रात थी। घनघोर वर्षा हो रही थी। ठण्डी हवा हड्डियों में सिहरन पैदा कर रही थी। चारों तरफ अंधेरा ही अंधेरा था। कभी कोई कार उधर से गुजरती तो थोड़े समय के लिए प्रकाश होता और गुजर जाने पर पुनः वही घनघोर अंधेरा।

ऐसे मौसम में एक व्यक्ति बस स्टाप पर खड़ा होकर घर जाने हेतु बस का इन्तजार कर रहा था। कई बसें वहाँ से गुजर चुकी परन्तु सभी खाली ही नजर आयी। अतः वह उनमें चढ़ने की हिम्मत न कर पाया क्योंकि उसे बस ड्राइवरों का विश्वास न था। जब कोई बस ड्राइवर उससे यह कहता कि मेरी बस का निर्दिष्ट स्थान भी आपके घर के पास ही है तो उसे लगता कि बस ड्राइवर उससे झूठ बोल रहा है। रात काली हो गई, वर्षा बढ़ने लगी और अंधेरा गहन हो गया। उस व्यक्ति ने अनुभव किया कि अगली बस में वह जरूर सवार हो जायगा। चाहे ड्राइवर विश्वासपात्र लगे या न लगे। वह किस आधार पर अपने निर्णय को सही मान सकता है? हो सकता है कि ड्राइवर अच्छा आदमी न हो। उसने पैदल जाने का निश्चय भी किया परन्तु रास्ते के बारे में उसे ठीक जानकारी नहीं थी। अतः अन्त में उसने विचार किया कि नहीं, मेरा बस से जाना ही ठीक होगा क्योंकि इससे मैं शीघ्रता से घर पहुँच जाऊँगा। थोड़ी देर बाद अगली बस आई और उसे लेने के लिए रुकी।

उस व्यक्ति ने ड्राइवर पर सन्देहात्मक दृष्टि डालते हुए पूछा—क्या तुम मॉडल टाउन नम्बर सात होते हुए जाओगे?

उसे मालूम नहीं कि बस ड्राइवर पर उसकी दृष्टि का क्या प्रभाव पड़ा, परन्तु बचपन से ही कुछ ऐसी धारणा थी कि इस पेशे वालों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। यह धारणा अब उसकी आदत बन गयी थी। फिर वह कैसे विश्वास करता? एक बार जहाँ बस में बैठे कि उसके बाद आपके हाथ में कुछ नहीं रहता। आप पूर्णतः इस ड्राइवर के आधीन हो जाते हैं। अतः वह आपको आपके निर्दिष्ट स्थान से एक दम भिन्न स्थान पर उतार सकता है। वह इतनी लापरवाही से चला सकता है कि कभी भी दुर्घटना हो सकती है। यदि वह चाहे तो आपको ठग भी सकता है, लूट भी सकता है।

बस ड्राइवर ने पीछे मुड़ कर देखा और कहा—हाँ आप जहाँ चाहेंगे, वहाँ मैं आपको पहुँचा दूँगा क्योंकि रात बहुत अँधेरी है और बस में कोई अन्य यात्री नहीं है।

वह झिझका, परन्तु देखा कि इसके अलावा और कोई चारा नहीं है तो बस के अन्दर चला गया।

बस बरसते पानी में अँधेरे को चीरती हुई आगे बढ़ने लगी । रास्ते में कभी-कभी एकाध कार मिल जाती, अन्यथा पूरा रास्ता निर्जन था । वह व्यक्ति खिड़की से बाहर देखने लगा परन्तु उसे कुछ भी जाना-पहचाना सा नहीं लगा । शहर के इस हिस्से से वह ठीक ढंग से परिचित भी नहीं था। उसे ऐसा लगा कि बस शहर से बाहर जा रही है ।

उसने ड्राइवर से कहा—मुझे तुम पर विश्वास नहीं है और मुझे लगता है कि जो पता मैंने तुम्हें बताया है, तुम मुझे वहाँ नहीं पहुँचाओगे । ऐसा लगता है कि तुम्हें मालूम भी नहीं है कि मॉडल टाउन कहाँ है।

ड्राइवर ने कहा—मैं तुम्हारे घर को अच्छी तरह जानता हूँ । उस व्यक्ति ने कहा—मैं तुम पर कैसे विश्वास करूँ ? तुम्हें कुछ और प्रमाण देना होगा।

बस ड्राइवर ने कहा—मैं क्यों प्रमाण दूँ । आपको विश्वास करना हो तो करो नहीं तो मत करो। आप इस बस से जाते हैं या नहीं, इससे मेरा कोई व्यक्तिगत लाभ तो नहीं । मैं तो मात्र बस कम्पनी के लिए कार्य करता हूँ।

उस व्यक्ति ने पुनः एक बार खिड़की से बाहर देखा । तभी ड्राइवर ने बस को बायीं ओर मोड़ दिया, उसने जल्द ही जब बस को दूसरी, तीसरी और चौथी बार भी बायें मोड़ा, तब उस व्यक्ति ने कहा—ऐ एक मिनट ठहरो । तुम बस को एक ही जगह में घुमा रहे हो ।

ड्राइवर ने कहा—इस समय यही एक रास्ता है, क्योंकि शहर के इस हिस्से में अनेक सड़कें टूट गई हैं।

उसने संदेहात्मक दृष्टिकोण से कहा—मुझे तुम पर विश्वास नहीं । ऐसा लगता है कि तुम मुझे नरक में पहुँचाकर ही रहोगे ।

बस ड्राइवर ने कहा—घबराइये नहीं, यदि आपका घर नरक में है तो भी वहाँ पहुँचाना मेरा कर्त्तव्य है। परन्तु मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि यदि आपको मुझ पर विश्वास है तो मैं आपको आपके घर ही पहुँचा रहा हूँ । आप इत्मीनान से बैठे रहिये ।

उसने कहा—मैं सोचता हूँ कि तुम्हें मेरे पैसे चाहिये, जब कि बस का किराया पहले ही दे चुका हूँ । तुम निश्चय ही मुझे बस से उतारकर उस पैसे से मजा करना चाहते हो । बस ड्राइवर ने कहा—"आपको मैं कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मेरा इरादा बिल्कुल साफ है । बस चलाकर मैं आपकी सेवा कर रहा हूँ । यह आपकी इच्छा पर है कि आप बस में बैठते हैं या नहीं आपने जो पैसे किराये के रूप में दिये हैं वे तो बड़ी मुश्किल से डीजल खर्च के बराबर है। मुझे अपने लिए तो आज भिक्षा माँगनी पड़ेगी । आप अपने घरसे बहुत दूर अंधेरी रात में खड़े थे अतः आपको आप के घर तक पहुँचाने के लिए मैंने अपनी बस में चढ़ा लिया । इसके अलावा मेरा दूसरा कुछ भी इरादा नहीं है।" इसके पश्चात् अंधेरी रात में उनकी लक्ष्यहीन मौन यात्रा जारी रही ।

गुरु आपको लक्ष्य तक तभी पहुँचा सकता है जब आपको उसके ऊपर पूर्ण विश्वास होगा । इसलिये गुरु के प्रति श्रद्धा और विश्वास का होना अत्यन्त आवश्यक है ।

● आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

कल्याण का आधार है—योग

सुख और शान्ति का उद्गम है मनुष्य के अन्दर 'स्व' की खोज और आत्मज्ञान की अभीष्ट उपलब्धि। इसी खोज के लिए संसार में विभिन्न धर्मों तथा साधना पद्धतियों के लोग यज्ञ, नाम जप, संकीर्तन समाज सेवा, दान, तप, शास्त्रों का पाठ तथा ध्यान-समाधि आदि अनेकों उपायों का अवलम्बन लेते हैं। किन्तु बहुत कम व्यक्ति ही अपनी खोज में सफल हो पाते है। इसका कारण यह नहीं है कि उनकी जिज्ञासा तथा क्रिया में कोई कमी है अपितु मुख्य बात यह है कि सारी साधनाओं के मूल में योग सन्निविष्ट है। बिना योग सिद्धि के ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा आचार जड़हीन वृक्ष की तरह है। लाखों प्राणियों में किसी-किसी को अपने माता-पिता के पुण्य कर्मों तथा स्वयं के शुभ प्रारब्ध के फलस्वरूप योग का पवित्र मार्ग प्राप्त हो पाता है। उसमें भी सद्गुरू जो ज्ञान तथा क्रिया दोनों में ही पूर्ण सिद्धि हो, सौभाग्य से प्राप्त हो जाय तो साधक रूपी घड़ों में छिद्र होने के कारण योग सिद्धि प्रायः हो नहीं पाती। श्री सद्गुरुदेव ऊपर से अपनी करुणा कृपा की वृष्टि करते हैं और उधर साधक के अपने प्रमाद और दुर्भाग्य से शक्ति बाहर निकल जाती है। परिणाम यह होता है कि साधक खाली का खाली बना रहता है तथा 'कालहि, कर्महि, ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाय' का कथन सामने आ जाता है।

योग साधक चार प्रकार के होते हैं-मन्द या अल्पवीर्य, मध्यम उत्तम या अधिमात्र तथा उत्तमोत्तम या अधिमात्रतम। पूर्व दो प्रकार के साधक यदा-कदा देखा-देखी योग ध्यान में प्रवृत्त होते हैं साथ ही उनकी वृत्तियां दुनियादारी से भरपूर रहती है। ऐसे साधकों को कई जन्मों में घुणाक्षर न्याय होने पर दैव-कृपा से योग सिद्धि हो पाती है। अन्तिम दो प्रकार के साधक वे होते हैं जिनका जन्म माता पिता की रजवीर्य की शुद्धि द्वारा सद्भाव तथा दृढ़ इच्छा शक्ति से हुआ है और जो अपनी साधना में महा उत्साही तथा दृढ़ निश्चयी हैं। सर्वश्रेष्ठ साधक वह है जिसका जन्म पुण्यवान माता-पिता की तपस्या के फलस्वरूप हुआ है तथा उसके सभी संस्कार शास्त्र विधि से किये गये हों जिससे उसके मल आवरण और विक्षेप न्यून हो गये हों। उसके बाद उस पर पूर्ण गुरुदेव की अपार करुणा कृपा हो गई हो। जिसने श्री गुरुदेव की ऐसी सेवा की हो जिससे गुरुदेव ने संतुष्ट होकर उसे अपना सर्वस्व दे दिया हो और उसे उसी क्षण योग की चरम स्थिति प्राप्त हो गयी हो। योग सिद्धि का मूल श्री गुरुदेव के मन की प्रसन्नता है। श्री गुरुदेव की कृपा के बिना अनादि चितिशक्ति साधक का वरण नहीं करती और न उसका कल्याण ही करती है। श्री गुरुदेव उसी पर प्रसन्न होते हैं जो अपना सर्वस्व समर्पण कर देने में कुछ सोच-

तिरस्कार नहीं करता तथा प्राप्त शक्ति को कंजूस के धन की तरह गुप्त रख सकने की सामर्थ्य रखता है। ऐसा साधक यदि गुरुदेव को मिल जाता है तो वे बिना मांगे ही अपनी अतुलनीय दैवी सम्पत्ति चुपचाप बिना बताये उसी प्रकार उसे दे देते हैं जिस प्रकार द्वारिकाधीश ने निष्काम साधक सुदामा जी को सारा ऐश्वर्य चुपचाप प्रदान कर दिया था। उत्तम कोटि का साधक उठते-बैठते, सोते-जागते, चलते-फिरते, हरक्षण अपने अभ्यास में लगा रहता है। 'सतताभ्यासी भवति द्विजः'। ध्यान समाधि के सतत अभ्यास से साधक का कर्मबन्धन शिथिल हो जाता है तथा श्री गुरुदेव की कृपा से वह 'धर्ममेघ समाधि' की भूमिका में आरूढ़ हो जाता है, जहाँ उसके द्वारा पुण्य कर्म ही होते हैं।

इस शताब्दी के महान योगी महर्षि अरविन्द ने योग सिद्धि के तीन उपाय बताये हैं—गुरु, शास्त्र तथा उत्साह। सर्व प्रथम साधक को ऐसे गुरु की कृपा प्राप्त हो जाय जो स्वयं क्रिया सिद्ध तथा शास्त्र सिद्ध हों। दूसरे साधक को शास्त्रों में दृढ़ विश्वास हो तथा उनके पठन द्वारा सन्देह की निवृत्ति होकर साधना पद्धति की सफलता में पूर्ण विश्वास हो। स्वाध्यायी साधक को इष्ट कृपा शीघ्र प्राप्त होती है। महर्षि पतञ्जलि 'स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः'—सूत्र में यही मत बताया है। स्वाध्याय के बल से साधक सिद्धानुकम्पा का भाजन बनता है। शास्त्राभ्यास के साथ-साथ जप ध्यान भी आवश्यक है। अन्यथा साधक 'ज्ञानबन्धु' बन जायेगा। शास्त्र-वासना से उसकी बुद्धि शुष्क सिद्धान्तों के प्रति दुराग्रही बन जायगी। एक वेदान्ती महामण्डलेश्वर ने ऋषिकेश में योग-महत्त्व को न समझकर एक सभा में कोरे शास्त्र ज्ञान के कुतार्किक स्वरूप वाली 'ज्ञान अंकुश' का परिचय देकर कई साधकों की अश्रद्धा तथा शाप वरण का किया था। अतः शास्त्रज्ञ मूर्ख से भी अधिक खतरनाक होता है। साधक को शास्त्रज्ञान को अपनी अनुभूति का विषय बनाना चाहिए। केवल भाषण के शास्त्रज्ञान गधे पर लदी हुई चन्दन की लकड़ी के बोझ के समान है। इसके साथ-साथ साधक आलस्य रहित होकर हरक्षण उत्साह युक्त हो। उसमें समुद्र को पी लेने की प्यास हो और निरन्तर उत्साह, श्रद्धा और आदर के साथ गुरुनिर्दिष्ट साधना में लगा रहने वाला हो। उत्साही साधक फल की परवाह किये बिना सतत् अभ्यास में रत रहता है। जिसके फलस्वरूप वह थोड़े ही समय में योग की उच्च भूमिकाओं में स्थित हो जाया करता है। जो साधक साधना से मन मोड़कर मान-सम्मान तथा प्रदर्शन के चक्कर में पड़ जाते हैं वे कहीं के नहीं रहते। योगकुण्डलिनी उपनिषद् में कहा गया है कि शास्त्र और गुरु के बिना योग सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। अनेक साधकों का यह अनुभव है कि हमारे सद्गुरु जिन साधकों पर विशेष कृपा करते हैं उन्हें शास्त्राभ्यास की रुचि प्रदान कर देते हैं। शास्त्र का आधार लेकर ही गुरुदेव साधना के मार्ग का उपदेश दिया करते हैं। अभ्यास के विषय में भगवान पतञ्जलिदेव जी महाराज ने उल्लेख किया है कि—

स तु दीर्घकाल नैरन्तर्येण
सत्कारा सेवितो दृढभूमिर्भवति।

अर्थात् दीर्घकाल तक लगातार आदरपूर्वक किया हुआ अभ्यास दृढभूमि बन जाता है। अभ्यास तथा शास्त्राभ्यास के बल से साधक सिद्धि का भाजन बनता है। जब

[illegible] साधक को इष्ट निष्काम नहीं होता तब तक उसे साधना में आनन्द नहीं आयेगा। बिना आनन्द के वह किसी प्रकार भी साधना में कैसे प्रवृत्त हो सकेगा।

श्रद्धा और तप योग सिद्धि के आधार साधन हैं। श्रद्धा का जन्म सत्यनिष्ठा से होता है। जिसके जीवन में कपट, छल, छिद्र, जितना कम होगा उतनी ही अधिक उसमें श्रद्धा होगी श्रद्धायुक्त मन साधना के पथ पर सरपट दौड़ लगा सकता है। श्रद्धा योगी की रक्षा माँ की तरह करती है उपनिषद् में भी आत्म-प्राप्ति के सन्दर्भ में ऋषि का उद्‌बोध है कि-'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यक् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' अर्थात् आत्मा का दर्शन सत्य, तप, यथार्थ ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य के बिना नहीं हो सकता। भगवान व्यासदेव, का भी यही मत है कि—'अतपस्विनः योगी न सिध्यति' जो ब्रह्मचर्य द्वन्द्व सहन, सत्य भाषण, प्राणायाम रूपी तप नहीं करता उसे योग में सफलता नहीं मिल पाती। तप से संचित पापकर्मों का नाश होता है। 'तपसा किल्विषं हन्ति, प्राणायामेन पातकम्' प्राणायाम के अभ्यास से महापातक नष्ट हो जाते हैं। भूख, प्यास, शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन से अशुद्धि का क्षय होकर अणिमादि कायिक तथा दूरदर्शन दूर श्रवणादि ऐन्द्रिय सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। तपस्वी को ही प्राणायाम सिद्ध हो पाता है। आसन सिद्धि से तप सिद्ध होता है इसी प्रकार ब्रह्मचर्य की साधना से उत्साह तथा धैर्य तथा धारणा शक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है जिससे साधक में शक्ति को स्वयं ग्रहण करने तथा अधिकारी साधकों पर शक्तिपात करने की सामर्थ्य आती है। प्राणायाम परायण साधक के आगे प्रकाशपथ स्पष्ट हो जाता है। प्रकाशावरण का क्षय होने से ऐसा साधक समाधि के [illegible] पहुँच जाया करता है।

वराहोपनिषद् में योग सिद्धि के लिए दो प्रकार के उपायों का उल्लेख है—शुकदेव की साधना तथा वामदेव की तन्त्र साधना। शुकदेव का मार्ग विहंगम मार्ग कहलाता है तथा वामदेव का मार्ग पिपीलिका मार्ग कहलाता है। प्रथम तुरन्त मुक्तिप्रद है, द्वितीय क्रमशःमुक्तिप्रद। जो शुकमार्ग का अवलम्बन करते हैं उन्हें योगसिद्धि शीघ्र हो जाती है। उनका जन्म-मरण चलता रहता है और शनैः-शनैः योग, सांख्य तथा भक्ति के अभ्यास द्वारा कई जन्मों में अभ्यास करते-करते पूर्णता की प्राप्ति करते हैं। 'अनेक जन्म संसिद्धि ततो याति परां गतिम्'। —गीता

किसी भी प्रकार की साधना की जाय, सभी का लक्ष्य प्राण जय होता है। प्राणवायु का निरोध करने से केवली कुम्भकावस्था आती है, जिससे साधक में संयम (धारणा ध्यान समाधि की एकत्र स्थिति) सिद्धि की सामर्थ्य आती है। प्राण जय से मनोजय स्वतः हो जाता है। हठयोग प्रदीपिका आदि ग्रन्थों में प्राण जय साधना के लिए निरन्तर अभ्यास पर बल दिया गया है। क्योंकि 'क्रियैव कारणं सिद्धेः' क्रिया द्वारा ही कार्य में सिद्धि होती है। योग क्रिया के लिए साधक को जनरहित एकान्त स्थान चुनना चाहिए जहाँ साधना निर्विघ्न पूर्वक हो सके तथा उस पर किसी की दृष्टि न पड़े। हमें एक ऐसे साधक मिले जो अपनी साधना इतनी गुप्त रीति से करते थे कि उनकी धर्मपत्नी भी उनके बारे में नहीं जानती थी। वे अपनी धर्मपत्नी को सिनेमा और आमोद-प्रमोद में बेरोक-टोक जाने देते तथा मन्दिर पूजा आदि के नाम पर अपनी अरुचि दिखाया करते। वे घर के

सब लोगों को सुलाकर एकान्त में पढ़ने के बहाने चले जाते और रात्रि भर जगकर साधना किया करते थे। हमारे सम्पर्क में आने पर उनके घरवालों को उनकी साधना की उन्नतावस्था का ज्ञान हुआ। साधना जितनी गुप्त रहती है—उतनी ही वीर्यवती तथा शीघ्र सफल होने वाली होती है।

साधक को योगसिद्धि के लिए युक्ताहार विहार तथा युक्त चेष्ट तथा युक्त कर्म परायण के साथ-साथ युक्त स्वप्न तथा जागरणशील होना चाहिए। गीता में भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण ने साधक अर्जुन को जो उपदेश दिया, उसमें 'युक्त' शब्द विचारणीय है। साधक को ध्यान परायण रहकर भोजन, गमन, शयन, जागरण आदि सारी चेष्टायें तथा क्रियायें करनी चाहिए। सतत् कीर्तन अथवा मन्त्र जप होता रहे तभी यह 'युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।' की स्थिति को सार्थक कर सकेगा। जिसका मन हर क्षण अपने इष्ट में रमता है वही 'युक्तावस्था' का साधक होता है। साधक को आहार के संबंध में बहुत सावधान रहना चाहिए, क्योंकि भक्ष्य, भोज्य, लेह्य तथा चोष्य—चारों प्रकार के आहार से तीन प्रकार के शरीर—कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल निर्मित होते हैं। उन शरीरों के अन्दर जितनी शुचिता होगी, उतना ही सतोगुण का उत्कर्ष होने के कारण प्राणों का उच्च भूमिकाओं पर उत्क्रमण सहजता से हो जायगा तथा ध्यान समाधि अत्यन्त सुलभ हो सकेगा। भोजन में स्वच्छता के साथ पवित्रता भी अति आवश्यक है। साधक के लिए भोजन का नियम है।

हितं मितं च भोक्तव्यं
स्तोकं स्तोकमनेकधा।

घी, दूध युक्त मधुर हितकारी भोजन थोड़ी मात्रा में अनेक बार खाना चाहिए जिससे उसके पाचनमें प्राणशक्ति अधिक व्यय न हो। युक्ताहारके साथ-साथ साधक को अपनी प्राणशक्ति व्यर्थ की बातों में नष्ट नहीं करनी चाहिए। साधक को मौन रहने का अभ्यास करना चाहिए। व्यवहार चलाने के लिए सारयुक्त कम से कम शब्दों के द्वारा अपनी बात कहनी चाहिए। वाणी का संयम तथा रसना का संयम करने से प्राण एवं वीर्य की शुद्धि होती है। रसना में ही वाक् इन्द्रिय रहती है। अन्य सभी इन्द्रियों का एक-एक ही कार्य है किन्तु रसनेन्द्रिय वागेन्द्रिय के रूप में कर्म तथा ज्ञान दोनों की इन्द्रिय है। अतः इसके संयम से साधक सत्य प्रतिष्ठित एवं ब्रह्मचारी हो जाता है। रसनेन्द्रिय जलतत्व से बनी है तथा जननेन्द्रिय भी जल तत्व से ही बनी है। अतः एकसे दूसरी प्रभावित होती है। इसीलिए प्रायः यह देखा जाता है कि जो बहुत चाट-पकौड़ी खाता है उसका ब्रह्मचर्य नहीं रह पाता। जो ब्रह्मचारी होता है उसकी आहार शुद्धि स्वतः होती है। इसी प्रकार वागेन्द्रिय अग्नि तत्व से निर्मित है जो बहुत वाचाल होते हैं उनकी दृष्टि भी चंचल होती है। ऐसे साधकों को मन की एकाग्रता नहीं हो सकती। श्रीमद्भागवत् में इसीलिए कहा गया है—'जिते रसे जितं सर्वम्।' जिसने रसनेन्द्रिय तथा वागेन्द्रिय को जीत लिया वह त्रिभुवन को जीतने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है—अर्थात् उसे योग सिद्ध हो सकती है। भगवान सदाशिवने शीघ्र योग सिद्धि के कुछ उपायों का कथन किया है। यथा साधकको नित्य योग सिद्धान्तोंका श्रवण करना चाहिए। वैराग्य भाव से वह घर में रहे। सदा मन्त्र जप तथा कीर्तन करते हुए

यह शुभ बातें ही सुनें। धृति, क्षमा, तप, शील, लज्जा तथा गुरु सेवा का व्रत लेकर अपने साधन में तत्पर रहने वाले साधक को शीघ्र योग सिद्धि हो जाता है। योगी को दायें स्वर के चलने पर भोजन तथा बायें स्वर के चलने पर शयन तथा दोनों स्वर चलने पर ध्यान करना चाहिए।

योगसिद्धि के लिए योगी साधक को केवल कुम्भक का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए तथा उड्डियानबंध, सिद्धासन पद्मासन सिद्ध-रीति से करने चाहिए। यह रीति सिद्धानु-कम्पा से प्राप्त होती है। पुस्तकों या आज के योग शिक्षकों के पास यह नहीं मिल सकती। केवल अधिकारी को ही देने का शास्त्र नियम है अतएव यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया जा रहा। इसके अतिरिक्त पश्चिमोत्तान आसन सर्वाङ्गासन, विपरीतकरणी मुद्रा, योनिमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध तथा खेचरी, भुजंगी, वज्रोली, अमरोली आदि मुद्राबन्ध आसन तथा क्रियाओं का अभ्यास सिद्धयोग-पद्धति से करना चाहिए। सिद्धों की अनुकम्पा प्राप्त कर जो योग मिलता है उसे सिद्धयोग कहते हैं। उसकी विशेष पद्धति होती है। दीक्षा के बाद ही साधक उस पद्धति का अभ्यास कर सकता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने पर साधक क्रमशः परिचया-वस्था, घटावस्था तथा निष्पत्त्यावस्था के सोपानों पर आरूढ़ होता चला जाता है।

योग सिद्धि के लिए आवश्यकता इस बात की है कि योगी साधक गुरूपदिष्ट आसन, बन्ध तथा मुद्राओं से नाड़ी शोधन करले तथा प्राणों की पश्चिमगति कर केवली कुम्भक की स्थिति दृढ़ करले। आगे सारी भूमिकायें श्री गुरुदेव की कृपासे अपने आप स्पष्ट होती जायेंगी। परिचयावस्था में प्राण सूर्य और चन्द्रनाड़ी को छोड़कर निश्चल होकर सुषुम्ना विवर में प्रविष्ट हो जाते हैं। योगी की एका-ग्रावस्था दृढ़ होने लगती है। उस समय योगी अपने कर्माशय को जानने लगता है तथा प्रणवजप द्वारा कर्म विपाक का नाश करने की सामर्थ्यवाला बन जाता है। इस अवस्था में योगी पंचभूतों की धारणा दृढ़ करके पञ्च-भूतों के भय से मुक्त हो जाता है।

मेधावी सर्वभूतानां
धारणां यः समभ्यसेत्।
शतब्रह्म मृतेनापि
मृत्युस्तस्य न विद्यते॥

—शिव संहिता ३/८८

जब योगी मूलाधार चक्र में प्राणवायु को दो घण्टे धारण कर अन्य सभी चक्रों में भी दो-दो घण्टे धारण करने का अभ्यास परि-पक्व कर ले तब वह भूतजयी बन जाता है। सौ ब्रह्माओं का मृत्युकाल पूर्ण होने पर भी उसे मृत्यु नहीं मार सकती।

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते-करते मन्द अधिकारी भी योग सिद्ध बन जाया करता है। आवश्यकता इस बात की है कि साधक कुछ कुर्बान करने को तैयार हो। जो भाग्य भरोसे हाथ पर हाथ रखे बैठा रहता है उसका भाग्य भी सो जाता है। जो जाग्रत रहता है तथा कुछ करता रहता है उसकी मदद को ईश्वरीय शक्ति उतरती है—

'हिम्मते मरदां मददे खुदा।'

जो कुछ खर्च करने की हिम्मत रखता है उसे अच्छा सौदा भी मिल जाता है। सबसे बड़ी बात यह है कि श्री गुरुदेव के वचनों पर विश्वास कर ध्यानमें मगन हो जाय। साधकों के हितार्थ श्री गुरुदेव का आदेश है कि स्वस्थ रहने तथा नाड़ी शुद्धि के लिए हर साधक को

● श्री रामधन शर्मा शास्त्री

शरीरगत दशवायु

शरीर में दश वायुओं का निवास है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकल, देवदत्त, धनञ्जय। इनमें प्राण हृदय में, अपान गुदा मण्डल में, समान नाभि देश में, उदान कण्ठ में और व्यान सारे शरीर में रहता है। इनमें पाँच प्राणादि वायु प्रधान है। इनके अतिरिक्त पाँच वायु (उपवायु) और हैं। उदगार (डकार) उत्पन्न करने वाला नाग नामक वायु है। कूर्मवायु का कार्य है नेत्रोन्मीलन कृकल का कार्य है छींक उत्पन्न करना देवदत्त का कार्य है जंभाई लेना और देवदत्त का कार्य है जंभाई लेना और धनञ्जय शरीर के सभी अवयवों में व्यापक रहता है। चार घड़ी तक तो यह मृतक शरीर में भी रहता है। इस प्रकार यह दशवायु जीव के स्वरूप में शरीर में भ्रमण करते है।

'जीवनतत्व' क्रियाओं का नियम से अभ्यास करना चाहिए। तथा प्रतिदिन दो घण्टे जप एवं एक घण्टे ध्यान करना चाहिए। जो इतना करने लगता है उसे अनुभूतियाँ होने लगती हैं। जो साधक परनिन्दा तथा दूसरों को सुधारने के चक्कर में पड़े रहते हैं वे सब कुछ मिलने पर भी लुटे हुए की तरह खाली बन जाया करते है। अतः इस अमूल्य जीवन को सार्थक बनाइये। ★

व्याख्या—प्रधान जो पाँच वायु हैं उनके कार्य का उल्लेख ऊपर नहीं किया गया इसलिये उनका विवेचन भी आवश्यक है। प्राणवायु का स्थान हृदय में है यह स्वाँस को बाहर भीतर करता है और भोजनादि का परिपाक करता है। अपान वायु का स्थान गुद देश में है जहाँ से वह मल-मूत्र बाहर निकालने का काम करता है। समान वायु नाभि में रहकर शरीर को यथावत् (स्वाभाविक अवस्था में) रखने का कार्य करता है। उदान वायु कण्ठ में रहता है और शरीर की शुद्धि का कार्य करता है। व्यान सारे शरीर में व्याप्त रहकर ग्रहण करना त्यागना आदि अंगों के धर्मों को करता है।

अन्य मत के अनुसार प्राण वायु मुख नासा और नाभि में कुण्डलिनी के चारों ओर रहता है। पाँव के अँगूठे में भी उसका सदा निवास है। अपान वायु के स्थान गुद उपस्थ उरु जानु पेड़ू कटि और नाभि हैं। उदान वायु के स्थान हाथ पाँव और सन्धियाँ हैं। समान वायु का निवास उदराग्नि कला सहित सभी अंग हैं। व्यान वायु के स्थान मुख, नेत्र, नासिक, कान, कण्ठ, कपोल, हृत्यों के मणिबन्ध माने गये हैं।

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् से इन वायुओं का जिस प्रकार से विवेचन मिलता है उसका वर्णन भी यहाँ उचित है।

प्राणापानौ समानश्च
उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो
देवदत्तो धनञ्जय ॥
चरन्ति दश नाडिषु
दश प्राणादि वायवः ।
प्राणादि पञ्चकं तेषु
प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥
प्राण एवाथवा ज्येष्ठो
जीवात्मानं बिभर्तियः ।
आस्य नासिकया मध्य
हृदयं नाभि मण्डलम् ॥
पदाङ्गुष्ठ मिति प्राण
स्थानानि द्विजसत्तमः ।
अपानश्चरति ब्रह्मन्
गुद मेढ्रोरुजानुषु ॥
समान सर्व गात्रेषु
सर्वव्यापि व्यवस्थितः ।
उदानः सर्व सन्धिस्थः
पादयोर्हस्तयो रपि ॥
व्यानः श्रोतोरुकट्यां च
रसाविच सभी कृतम् ।

अर्थात्—प्राण अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर और देवदत्त, धनंजय यह दश प्राण वायु दश प्रमुख नाड़ियों में चलते हैं। इनमें प्राणादि प्रथम पाँच प्रधान अथवा दो प्राण और अपान मुख्य हैं। अथवा एक प्राण वायु ही सबसे मुख्य है। जो जीव धारण किये हुए रहता है। प्राण के पाँच स्थान मुख्य हैं। मुख नासिका मध्य भाग हृदय नाभिमण्डल और पाँव का अंगूठा। अपान के चलने के स्थान हैं गुदा, मेढ्र, जंघा और घुटने। समान वायु सब अंगों में व्याप्त रहता है। उदान हाथ, पाँव और सोम सन्धियों में स्थित है। व्यान के स्थान हैं। श्रोत, जंघा, कटि, एड़ि, कन्धे और कण्ठ नागादि पंच उपवायु त्वचा अस्थि आदि अंगों में रहते हैं।

प्राणायाम का साधन आवश्यक है।

जैसेकि कन्दुक अर्थात् गेंद जब हाथ द्वारा पृथ्वी पर ताड़ित होकर स्वयं उछलता है वैसे ही प्राण वायु के स्थान में अपान वायु और अपान वायु के स्थान में प्राण वायु की प्राप्ति में जीव को आकर्षित करके अपान वायु ठहरने नहीं देता। जैसे कि गेंद खेलने वालों के वश में रहता है वैसे ही जीव अविद्या के वश में रहता है। जिस कारण जीव प्राण अपान के वश में रहता है इसी कारण से वह इडा और पिङ्गला नाड़ियों के द्वारा मूलाधार तक गिरता और सुषुम्ना नाड़ी के रन्ध्रों तक चढ़ता है। इस प्रकार गिरता चढ़ता ही रहता है। और चंचल होने के कारण दिखाई भी देता।

व्याख्या—यह जीव प्राण अपान वायुओं के वशमें रहने के कारण इड़ा पिंगला नाड़ियों द्वारा हाथ से ताड़ित गेंद के समान गिरता-चढ़ता रहता है। उसकी चंचलता को रोकने के लिए प्राण अपान को जितना आवश्यक है। क्योंकि प्राण अपान को जीते बिना जीवात्मा संयत नहीं हो सकता और जब तक संयत नहीं हो सकता तब तक हृदयकमल के मध्य आत्म-ध्यान भी नहीं बन पाता।

यहाँ जीवात्मा से तात्पर्य चित्त अथवा मन से भी समझना चाहिए। क्योंकि मन के

चंचल रहते हुए ईश्वर की प्राप्ति सम्भव नहीं है। शाट्यायनीयोपनिषद् के अनुसार भी मन ही जीव के भवचक्र में घूमने का कारण है। यथा—

मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्ध मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं
मुक्त्यैः निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात् मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होता है वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होता है वह मोक्ष का कारण रहता है। इस प्रकार आत्म साक्षात्कार की उपलब्धि में मन ही प्रमुख कारण है। उसे वश में करना अत्यन्त आवश्यक है।

मैत्रेय्युपनिषद् में कहा है—

चित्तमेव ही संसार-
स्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति
गुह्य मेतत्सनातनम्॥
चित्तस्यहिप्रसादेन हन्ति
कर्म शुभाशुभम्॥
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा
सुखमव्यय मश्नुते॥

अर्थात्—चित्त ही संसार है इसलिए प्रयत्नपूर्वक उसे शुद्ध करे। जैसा चित्त वैसी उसकी गति, यह सनातन सिद्धान्त है। चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं और शान्त चित्त वाले मनुष्य आत्मा में लीन होकर अक्षय आनन्द प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार ही सिद्ध होता है कि मन को निस्सार विषयों में भटकने से रोका जाय। क्योंकि मन के वश में होने पर ही साधक आत्मजेता हो सकता है।

रज्जुबद्धो यथा श्येनो
बद्धोऽप्या कृष्यते पुनः।
गुण बद्ध स्तथा जीवः
प्राणापानेन कृष्यते।
अपानः कर्षति प्राणं
प्राणोऽपानं च कर्षति।
ऊर्ध्वाधश्च संस्थिता वेतो
संयोजयति योगवित्॥

अर्थात्—जैसे बाज पक्षी के पाँव में डोरी ढीली छोड़ दे तो वह उड़ जायगा और डोरी के खिंच ले तो पुनः निकट आ जायेगा। इसी प्रकार माया से बंधा हुआ जीव प्राण अपान वायुओं द्वारा ऊपर नीचे खिंचे जाता है। आज्ञा चक्र में स्थित प्राण वायु ऊपर ही मूलाधार में स्थित अपान वायु आज्ञा चक्र में स्थित प्राण वायु को नीचे खींचता है। इस प्रकार यह दोनों वायु परस्पर एक-दूसरे को अपनी ओर खींचता है। परन्तु योगवत्ता पुरुष इन दोनों का संयोजन करते हैं।

व्याख्या—यह जीवात्मा सत्व रज तम इन गुणों के प्रभाव से वासनाओं के बन्धन में पड़ जाता है। उस समय अविद्या के कारण उसे आत्मबुद्धि नहीं रहती और वह शरीर में ही आत्म भ्रांति करने लगता है। परन्तु जब यह बुद्धि में लीन हो जाता है तब उसके निरुपाधि शुद्ध ब्रह्म होने की सम्भावना होती है। उस अवस्था में भी प्राण अपान वायु उसे पुनः खींचते हैं तब उसकी चित्तवृत्ति विषयों की ओर आकर्षित होकर उसे ईश्वर भाव से

हटाकर शीव भाव की ओर ही खींचने लगती है। प्राणापान के पारस्परिक आकर्षण को संयमित करने के लिये योगाभ्यास की अपेक्षा होती है। जो योगी प्राणापान की उक्तक्रिया से परिचित होते हैं वे उन्हें प्राणायाम के द्वारा वश में करके संयुक्त कर लेते हैं। प्राणपान का यह संयोग ही सूर्य चन्द्रमा का एकाकार कहलाता है जो कि हठ-योग की एक प्रक्रिया है—

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में कहा है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो
योगो योगात प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन
सयोगी रमते चिरम्॥

अर्थात्—योग से योग की वृद्धि होती है। इसलिए योग के द्वारा ही योग को जानना चाहिए। योग में सर्वंव दत्तचित्त रहने वाला योगी चिरकाल तक सुख का उपभोग करता है।

गीता में श्रीकृष्णजी ने कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
—गीता ६/२९

अर्थात्—योगयुक्त पुरुष सभी पदार्थों में आत्मा का निवास देखता है इस प्रकार उसे संसार की एकता का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। और वह सर्वत्र समान भाव से देखने लगता है। 'गुण बृद्धस्थता जीव' जीव को गुणों से बँधा हुआ माना है यह तीनों गुण माया के अंश है उनसे शरीर सम्बद्ध है या यों कहिए कि गुणात्मक शरीर के बन्धन में पड़े हुए जीव को गुणों के प्रभाव में रहना होता है। उसमें जिस गुण की अधिकता होगी वैसा ही स्वभाव होगा।

यह अनेक विद्वानों की मान्यता है। परन्तु मनुष्य पाप पुण्य से डरता है और तत्व गुण की अधिकता से वैराग्य उत्पन्न होता है। चित्त वृत्तियां ब्रह्म प्राप्ति की ओर प्रवृत्त होती हैं।

ब्रह्म अथवा ईश्वर

जिस प्रकार सूर्योदय सब लोगों के लिए व्यवहार का कारण होता है, उसी प्रकार जो मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त–इन चार अन्तरिन्द्रियों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति का कारण है और सब उपाधियों से रहित तथा आकाश की भाँति सर्वव्यापी है एवं मनोहर सृष्टिकर्ता द्वारा सदा प्रत्यक्ष भाव से विद्यमान है—वही ब्रह्म किंवा ईश्वर है।

जैसे दर्पण, जल, तैल आदि वस्तुओं में मुख का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, किन्तु वह प्रतिबिम्ब मुख से भिन्न नहीं है—वही ब्रह्म अथवा ईश्वर है।

—महात्मा श्री तैलंग स्वामी

प्रेरक चारु चरित्र :-

सन्त देवजानस सकलवी

सिकन्दर के समय में यूनान देश में देवजान सकलवी नामक एक हकीम हुए हैं। वे बड़े विरक्त और वैराग्यवान थे। वे जन्मभर ब्रह्मचारी रहे। उन्होंने अपने रहने के लिए कोई मकान तक नहीं बनवाया। वे कभी एक स्थान पर भी न रहे। कभी जंगल में, कभी मैदान में, कभी नदी के किनारे और कभी वृक्षों के नीचे रह लेते। बिना अपने मतलब के किसी से बोलते-चालते भी न थे। जब उनको भूख लगती, तब किसी न किसी से माँगकर खा लेते थे। अमीर के उत्तम भोजन और गरीब की सूखी रोटी को बराबर ही समझते थे, सिर्फ पेट भरने से उनका मतलब रहता था। हमेशा नग्न रहते थे, लंगोटी तक नहीं बाँधते थे।

एक बार किसी ने उनसे कहा—'तुम कपड़ा पहनकर अपने शरीर को क्यों नहीं ढाँपते ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जिसमें कोई ऐब होता है, वही अपने ऐब को छिपाता है, जिसमें ऐब न हो, वह क्या छिपावे ?' वह व्यक्ति इस जवाब को सुनकर चला गया। वे नित्य प्रति एक नानबाई (तंदूर वाले) की दुकान पर रोटी माँगकर खाते थे, उस नानबाई के यहाँ रोटी खाते हुए जब कई दिन गुजर गये, तब एक दिन नानबाई ने उनसे कहा—'तुम रोज ही रोटी खाने को आ जाते हो।' फकीर ने कहा—'तू रोज ही रोटी पकाता है और हमको रोज ही भूख लगती है, तब खायें नहीं तो क्या करें ?' 'नानबाई हँस पड़ा; परन्तु उसी दिन से उन्होंने उसकी दुकान पर जाना छोड़ दिया। इधर-उधर से माँगकर जो मिल जाता, उसीसे पेट भर लेते। नानबाई ने उनकी बहुत खुशामद की, पर वे पुनः उसकी दुकान पर नहीं गये।

एक दिन एक आदमी ने उनसे कहा—'तुम अपना घर क्यों नहीं बनाते ?' उन्होंने कहा—'घर तो वह बनावे जिसका घर गिरा हो या जिसका अपना घर न हो। जिन लोगों के परलोक सम्बन्धी सच्चे घर गिरे हुए हैं, वे ही इन झूठे घरों को बनाते हैं, फिर हम बने हुए को क्या बनायें ?' दूसरे हमारा घर तमाम दुनिया है, जिसमें आकर करोड़ों आदमी आराम पाते हैं। जब हमारा घर इतना बड़ा है कि तमाम जमीन इसका आँगन, सहन है, आसमान जिसकी छत है, ऐसा घर तो किसी भी आदमी से बन ही नहीं सकता।'

एक दिन वे एक जंगल में लम्बे पड़े थे। इतने में ही सिकन्दर ने आकर इनको लात मारकर कहा—'उठो जल्दी (रास्ता छोड़ो)! हमने एक मुल्क फतह कर लिया है। इस पर लम्बे पड़े-पड़े ही उन्होंने कहा—'मुल्क का फतह करना तो बादशाहों का एक गरूर (नशा) है, इसमें नई बात क्या है ? पर इससे मुझे क्या लेना-देना है ?' यह सुनकर सिकन्दर हतप्रभ रह गया और उसने पूछा—'इतनी बेपरवाही तुमको कहाँ से मिली ?' सन्त ने कहा—सब्र (सन्तोष) करने और ख्वाहिशों (कामनाओं) के छोड़ने से।

एक दिन किसी आदमी ने उनसे पूछा कि 'दुनिया में कोई तुम्हारा सम्बन्धी भी है या नहीं ?' उन्होंने कहा—'तमाम दुनिया के लोग अपने ही सम्बन्धी हैं। इसलिए मैं किसी को अपना (दूसरी बार) सम्बन्धी नहीं बनाता।' इस पर उसने कहा—'जब तुम मरोगे, तब तुमको दफन कौन करेगा ?' उन्होंने तुरन्त कहा—'जिसको हमारे मुर्दे की सड़ी गन्ध आयेगी, वही दफन करेगा। इसका तुमको क्या गम और हमको क्या फिकर है ?' निष्काम सन्त की आसक्ति शून्य तथा निर्लेप अटपटी वाणी में जीवन और जगत का मर्म सुनकर वह व्यक्ति श्रद्धावनत हो गया।

सत्यं · शिवं · सुन्दरम्

स्वामी विरजानन्द सरस्वती

जप की गणना, माला फेरना, गिनती रखना, ये सब केवल मन को अन्य विषयों से हटा लाने के लिए हैं, उसे पकड़े रखने के लिए है। ऐसा न करने पर मन कब इधर-उधर चला गया है और कब तन्द्रा आ गयी है, नहीं जान पाओगे। इसीलिए इन सबसे शुरू में कुछ विक्षेप होने पर भी, इस तरफ निगाह रख सकोगे, सहज ही तन्द्रादिक को पहचान पाओगे और मन को उधर से खींचकर ध्येय वस्तु की ओर आकृष्ट कर रख सकोगे।

× × ×

अपने को कदापि कमजोर न समझो। अपने पर स्वयं खूब विश्वास रखो। सोचो, मेरे लिए क्या असाध्य है, मैं मन में ठान लेने पर सब कुछ कर सकता हूँ। मन के सम्मुख पराजय स्वीकार क्यों करोगे? समझ लो, मन को वश में ला सकने पर सारा संसार तुम्हारे वशीभूत हो जायेगा, तुम विश्वविजयी बन जाओगे। जिसका अपने स्वयं पर भरोसा नहीं, उसका ईश्वर पर भी विश्वास नहीं जमता। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है। जिसको खुद पर विश्वास नहीं, वही यथार्थ में नास्तिक है। जिसको आत्मविश्वास नहीं, उसकी बात कोई नहीं सुनता, भगवान भी उसकी बात (प्रार्थना) नहीं सुनते।

× × ×

जिस अवस्था में स्थिर होकर (बिना हिलेडुले) और सुख से (आराम से) काफी समय तक बैठते बने—उसे ही आसन कहते है। किन्तु मेरुदण्ड को सीधा रखना होगा और वक्षःस्थल, और गर्दन तथा मस्तक सीधी हालत में रखने होंगे, मानो देह का समस्त भार पसलियों पर गिरता हो, पर वक्षःस्थल नीचे की ओर न झुक जाय। नीचे झुककर बैठना बिल्कुल ही स्वास्थ्यकर नहीं है।

× × ×

संसार असार, अनित्य है; केवल वे ही एकमात्र सार सत्य हैं, यह भाव जब तक मन में दृढ़ नहीं हो जाता, तब तक ध्यान करते समय मन चंचल होगा ही। इन्द्रिय सुखों की ओर जितना वैराग्य होगा, उतना ही भगवान पर अनुराग बढ़ेगा, मन भी उतना ही एकाग्र होगा। उनके दिव्य प्रेम का कणमात्र आस्वाद मिलने पर जगत् के सारे सुख तुच्छ और घृण्य हो जायेंगे।

× × ×

जप, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, स्मरण-मनन, सद्ग्रन्थपाठ, सत्संग, सदालाप, एकान्त-वास और आत्म-चिन्तन—जब जो भाव आये और करने की इच्छा हो तब। जो अच्छा लगे और करने की सुविधा हो, उसे ही करो। फिर भी ध्यान-जप ही असल चीज है, इसमें रोगराई और कितनी ही विपत्ति आ पड़ने पर भी एक दिन के लिए भी नागा नहीं करना। अधिक न कर सको, या सुविधा न हो, तो कम से कम १०-१५ मिनट ही तो प्राणायाम, प्रार्थना और जप कर लिया करो।

× × ×

डाक्टरी किताब पढ़कर अपने रोग का निर्णय करने बैठना और औषधि खाना एक अक्लमन्द आदमी का काम नहीं। रोग होने पर डाक्टर का परामर्श आवश्यक है। इसी तरह कुछ किताबें और शास्त्र ग्रन्थ पढ़कर, उन्हीं के अनुसार साधना करने पर, चित्त में भ्रम पैदा हो जाता है—सब घोटाला हो जाता है। एक समान उन्नति नहीं हो पाती। और तो और, कितने ही बार व्यर्थ का श्रम और खुद का अनिष्ट तक हो जाता है। कारण यह है कि शास्त्रों में अधिकार-भेद से या अवस्थानुयायी, एक ही विषय पर विभिन्न या परस्पर-विरोधी उपदेश या साधन पद्धतियाँ हैं। ठीक तुम्हारे लिए उनमें से कौन उपयोगी है इसका खुद ही निर्णय करना कितने ही बार महा विपज्जनक हो सकता है। इस विषय पर भी गुरु ही ठीक मार्ग बतला सकते है। इसीलिए तो गुरुमुख से ज्ञानलाभ करने की जरूरत है। वे जो दीक्षा और विचार दें,समझना कि वही तुम्हारा एकमात्र पथ है। उसमें और उनके प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा, विश्वास रखकर, निष्ठापूर्वक साधन-भजन करने से, समय आने पर निश्चय ही सिद्धि-लाभ होगा। किसी दूसरे के कहने से उस मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग कभी भी न पकड़ना, यदि ऐसा किया तो रास्ता भूलकर भटकना ही हाथ में रहेगा और त्रिकाल में भी कुछ हाथ नहीं लगेगा।

× × ×

विश्वास से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। विश्वास जमीन के टीलों पर डोंगे चला देता है, संशय से घुटने भर पानी में ही डूब मरने की नौबत आ जाती है।

× × ×

आशा ही जीवन है, सारी शक्ति और चेष्टाओं का प्रस्रवण है। आशा छोड़ते ही मनुष्य को निर्जीव, जीवन्मृत हो जाना पड़ता है। "जब तक साँस तब तक आस"। ईश्वर प्राप्ति के लिए मृत्युक्षण उपस्थित होने तक आशा का परित्याग न करो। वे अपनी इच्छा से, चाहे जब कृपा कर सकते हैं। शायद वे अन्तिम समय में ही दर्शन दें, ऐसा विश्वास धारण किये रहो।

योग-साधन आश्रम ऋषिकेश
का
वार्षिक समारोह

● सुश्री प्रज्ञा शर्मा, नानौता द्वारा प्रेषित

गत दिनांक १९, २०, २१ जून १९९१ को योग-साधन आश्रम, रेलवे रोड ऋषिकेश के पावन प्रांगण में आश्रम का वार्षिक समारोह बड़े उत्साह और उल्लास के साथ आरम्भ होकर सम्पन्न हुआ। इस त्रिदिवसीय समारोह में भाग लेने के लिए स्थानीय तथा सुदूर नगरों और कस्बों से आये हुए बहुसंख्यक गुरु भाई-बहनों ने भाग लेकर आयोजकों के उत्साह को बढ़ाया। जितने भी सत्संगी भाई-बहिन आये थे वे सभी अपने पूज्य गुरुदेव जी के साक्षात् दर्शनों के अभाव में खोये-खोये से रहे। फिर भी उन सबको इस आन्तरिक प्रसन्नता का अनुभव अवश्य होता रहा कि योग-साधन आश्रम, ऋषिकेश का यह समारोह परम सिद्धयोगी महाप्रभु श्री रामलाल जी और उनके श्रद्धालु शिष्य पूज्यपाद श्री चन्द्रमोहनजी महाराज की जीवन्त स्मृतियों का ही प्रतीक है। सर्वत्र उनकी ही लीलाएँ ध्यानावस्थित होने पर यहाँ दृष्टिगोचर होती रहती हैं।

दिनांक १९ जून सन् १९९१ ई० को प्रातःकाल आश्रम से प्रभातफेरी निकाली गयी जिसमें बड़ी संख्या में गुरु भाई-बहिन संकीर्तन करते हुए ऋषिकेश के प्रमुख मार्गों से निकले। आदरणीय भाई 'झा' (झाँसी वाले) ध्वनि-विस्तारक यन्त्र से उत्सव कार्यक्रम की सूचना देते जाते थे।

उत्सव का सभी कार्य आदरणीय आचार्य पूर्णचन्द्र शर्मा की अध्यक्षता में सुचारु रूप से सम्पन्न होता रहा।

प्रमुख योगविद् ब्र० श्री दासलाल जी तथा अन्य वक्ताओं के योग सिद्धान्तों पर उपयोगी भाषण हुए। ब्र० बलराम जी एवं वेदराम जी के योगिक प्रदर्शन भी प्रशंसनीय रहे। अन्तिम दिन गंगा दशहरा के स्नान और गुरु पूजन के साथ समारोह विधिपूर्वक सम्पन्न हुआ।

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008, AUGUST, 1991

प्रेषक कार्यालय : —

सि | द्ध | यो | ग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवांई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book-Post

श्री ....

कर्म फल क्या ?

कर्म के फल से युक्त करना श्लाघ्य नहीं बताया गया है । हमें काम करना है और निरन्तर बढ़ते रहना है । गीता के तीसरे अध्याय के पांचवे श्लोक में भी यह बताया गया है कि कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण-मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता, निःसन्देह सभी व्यक्ति प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं । इस क्रिया-युक्त स्थिति में सामान्य व्यक्ति फल का चिन्तन करते हैं, पर इन्द्रियों को वश में करने वाले अनासक्त रहते हैं । सत्य तो यह है कि 'निष्कामता' अति कठिन होते हुए भी अत्यन्त व्यावहारिक और प्रेरणाप्रद है ।

(गुरुदेव के प्रवचन से)

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसईकलाँ, ताजगंज, आगरा Ph. 360426